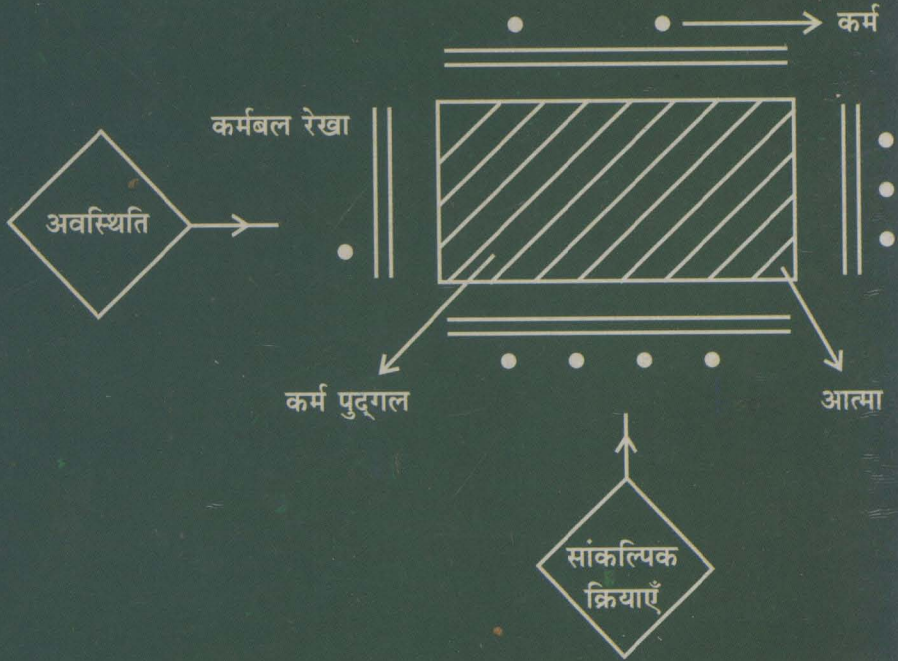


जैन धर्म की वैज्ञानिक आधारशिला

कान्ति वी० मरडिया



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
(भारत)

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रमांक 139

प्रधान संपादक
डा. सागरमल जैन

जैन धर्म की वैज्ञानिक आधारशिला

लेखक
कांति वी. मरडिया

हिन्दी अनुवाद
एन. एल. जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी - 221005 (भारत)

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रमांक 139

पुस्तक : जैन धर्म की वैज्ञानिक आधारशिला

प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्यापीठ
आई.टी.आई. रोड, करौंदी,
वाराणसी - 5
दूरभाष : (0542) 2575521, 2575890

प्रथम अंग्रेजी संस्करण : दिल्ली, 1990
द्वितीय परिवर्धित अंग्रेजी संस्करण : दिल्ली, 1996
संशोधित अंग्रेजी संस्करण : दिल्ली, 2002
प्रथम हिन्दी संस्करण : वाराणसी, 2004

© : पार्श्वनाथ विद्यापीठ
कांति वी. मरडिया

ISBN : 81-86715-71-1

प्राप्ति स्थान : पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी 221005 (भारत)
फोन : (0542) 318046
e-mail : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
कांति वी. मरडिया, लीड्स (यू.के.)
जैन सेन्टर, रीवा, म.प्र. - 486001
फोन : (07662)-241116

मूल्य : रु. 200; \$ 5.00; स्टर्लिंग 3.00 (P.B.)
रु. 250; \$ 6.00; स्टर्लिंग 4.00 (H.B.)

भारत में प्रकाशित

अक्षर संयोजन : विनय पिल्लई, स्मार्ट प्रोसेसिंग्स, रीवा 486001

पुनः कम्प्यूटर सेटिंग : एड विज्ज, करौंदी, वाराणसी 221005

मुद्रक : वर्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी 221010

(स्व.) श्री वरदीचंदजी मरडिया
(स्व.) श्रीमती संगारीबाई मरडिया

को

समर्पित

कांति और पवन मरडिया

और

(स्व.) श्री धनराज जी बाफना
श्रीमती सुमतिबाई बाफना

को

समर्पित

कांति और पवन मरडिया

**“धर्म के बिना विज्ञान पंगु है
विज्ञान के बिना धर्म अंधा है”**

जो व्यक्ति धार्मिकता से सम्बद्ध है, वह मुझे ऐसा लगता है, जैसे उसने अपनी सामर्थ्य के अनुसार, स्वार्थपूर्ण इच्छाओं की बेड़ियों से छुटकारा पा लिया हो।

आइंस्टीन (1940-41), देखें, पे. 26

जैन : वह व्यक्ति जिसने अपने आंतरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली हो।

प्रकाशकीय

‘जैन धर्म की वैज्ञानिक आधारशिला’ लीड्स विश्वविद्यालय, इंग्लैंड के सांख्यिकी विभाग के प्रोफेसर (अब सेवानिवृत्त वरिष्ठ शोध-प्रोफेसर) एवं जैन धर्म के मर्मज्ञ डा. कांति वी. मरडिया की प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तक ‘साइंटिफिक फाउंडेशन आफ जैनीज्म’ के परिवर्धित द्वितीय संस्करण का हिन्दी अनुवाद है। इस पुस्तक में जैन धर्म की आचार-विचार सम्बन्धी मान्यताओं को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने में आगमिक स्रोतों का सहारा लिया गया है और उन्हें चार स्वतःसिद्ध अवधारणाओं या सूत्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन अवधारणात्मक सूत्रों को नई भाषा एवं शब्दावली देकर उन्हें रोचक बनाया गया है। डा. मरडिया प्रस्तुत पुस्तक में वैज्ञानिक वृत्ति को प्रस्तुत कर पुस्तक की रोचकता में चार चांद लगाया है।

डा. मरडिया की मूल अंग्रेजी पुस्तक पश्चिमी जगत तथा भारत में भी अत्यंत लोकप्रिय हुई है। अल्प काल में इसके तीन संस्करणों का प्रकाशन इसका प्रमाण है। हिन्दी जगत में इस पुस्तक के अनुवाद की आवश्यकता का अनुभव अनेक वर्षों से किया जा रहा था। यह प्रसन्नता की बात है कि इस पुस्तक का अनुवाद डा. एन. एल. जैन, जैन सेंटर, रीवा म. प्र. ने किया है। वे न केवल हिन्दी, अंग्रेजी व संस्कृत भाषाओं में सिद्धहस्त हैं, अपितु वे जैन धर्म से भी अच्छी तरह परिचित हैं। उनकी अनेक पुस्तकें हमारे संस्थान से प्रकाशित हुई हैं और लोकप्रिय हुई हैं। मुझे विश्वास है कि उनका अनुवाद हमारे संस्थान के प्रकाशनों को और भी अधिक गरिमा प्रदान करेगा एवं हिन्दी जगत के लिये जैन मान्यताओं को वैज्ञानिक रूप से समझने के लिए उपहार सिद्ध होगा।

हम डा. मरडिया के आभारी हैं कि उन्होंने हमें अपनी पुस्तक के हिन्दी अनुवाद को, अनुवादक के सुझाव पर, संस्थान को प्रकाशित करने का अवसर प्रदान किया। मैं संस्थान के सहायक निदेशक डा. एस. पी. पांडे तथा प्रकाशन अधिकारी डा. विजय कुमार को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होंने इस अनुवाद के प्रकाशन के लिये प्रशंसनीय सुझाव दिया एवं उसे

मुद्रित करने में अनुकरणीय श्रम किया। मैं स्मार्ट प्रोसेसिंग्स, रीवा के प्रति इस पुस्तक की मनोहर शब्द-सज्जा के लिये तथा वर्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर,, वाराणसी के प्रति इसके सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिये अपना आभार व्यक्त करना चाहता हूँ।

वाराणसी,
महावीर जयंती, 23.4.2004

सागरमल जैन
सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

हिन्दी संस्करण का आमुख

“जैन धर्म की वैज्ञानिक आधारशिला”, “साइंटिफिक फाउंडेशन ऑफ जैनीज्म” के नाम से सर्वप्रथम अंग्रेजी में 1990 में प्रकाशित हुई थी। इसकी मांग तभी से निरंतर रही है। इसका द्वितीय संस्करण 1996 में प्रकाशित हुआ और अभी उसका पुनर्मुद्रण भी हुआ है। अंग्रेजी के प्रथम संस्करण का विमोचन गुरुदेव चित्रभानु जी द्वारा ‘जैन समाज, यूरोप’ के तत्त्वावधान में हुआ था और इसके द्वितीय संस्करण का विमोचन ब्रिटेन में भारत के तत्कालीन उच्च आयुक्त श्री एल. एम. सिंघवी ने “यार्कशायर जैन फाउंडेशन” लीड्स (यू.के.) के तत्त्वावधान में किया था। इस पुस्तक के विषय में उन्होंने निम्न व्याख्यावली लिखी है :

“प्रो. मरडिया ने हमें एक ऐसी पुस्तक दी है जिसमें भौतिकी और परा-भौतिकी को सह-सम्बन्धित किया गया है। इस पुस्तक में बुद्धिसंगत, वैज्ञानिक एवं अंतःप्रज्ञात्मक अवधारणायें दी गई हैं जो भारतीय परम्परा की अमूल्य निधि हैं। यह एक ऐसी पुस्तक है जो समग्र सत्य को प्रस्तुत करती है, स्थायी मूल्यों को प्रतिष्ठित करती है और आनेवाली सदी के लिए मार्गदर्शक है। मैं डा. मरडिया को उनके इस बहु-आयामी विद्वत्ता के प्रदर्शक अपूर्व योगदान के लिए बधाई देता हूँ।”

मेरे अनेक मित्रों ने मुझे सुझाव दिया है कि इस पुस्तक का हिन्दी प्रकाशन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि “जैन धर्म की वैज्ञानिक आधारशिला” पर हिन्दी में ऐसी पुस्तकें बहुत ही कम हैं।

आधुनिक युग विज्ञान और सत्य की देहली पर चल रहा है, और ‘जैनधर्म’ न केवल विज्ञान-समन्वित धर्म ही है, अपितु उसकी गंभीर तार्किक आधारभूमि भी है जो वैज्ञानिक सत्य के परिज्ञान पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती है।

मुझे अत्यंत प्रसन्नता है कि इस पुस्तक के हिन्दी अनुवाद का दुष्कर कार्य डा. एन.एल. जैन ने किया है। मैं इस कार्य हेतु उनके सिवा किसी अन्य विद्वान् की बात सोच ही नहीं सकता था। जैन धर्म और विज्ञान पर उनकी गहन पकड़ है। यह अनुवाद उनकी इस प्रवृत्ति का स्पष्ट साक्ष्य है। हमने उनकी क्रियाशीलता तब देखी जब उन्होंने 1996 में लीड्स नगर के ‘यार्कशायर जैन फाउंडेशन’ में भाषण दिया था। डा. जैन जैन दर्शन, भारतीय दर्शन एवं रसायन विज्ञान के परिज्ञाता होने के साथ हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत और अंग्रेजी के भी ज्ञाता हैं।

जैन धर्म को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने में उनकी महान् रुचि है और उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी हैं अनेकों का अनुवाद किया है। उन्होंने अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विद्वत् सम्मेलनों में, जैन विद्या के विविध विषयों पर शोधपत्र प्रस्तुत किया है और अनेक विदेशी विद्वानों और संस्थाओं को तीन लाख से अधिक का जैन साहित्य भेजा है। उन्होंने विदेशों में अनेक स्थानों पर भाषण दिये हैं और वे मार्च में 2002 में लंदन विश्वविद्यालय के सुप्रतिष्ठित "स्कूल आफ ओरियंटल और अफ्रिकन स्टडीज" के तत्त्वावधान में आयोजित जैन विद्या-कर्मशाला में भी अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया है।

मैं आशा करता हूँ कि यह हिन्दी अनुवाद जैन धर्म और विज्ञान के समन्वय के नये आन्दोलन को प्रवर्धित करेगा।

अन्त में मैं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के सचिव डा. सागरमल जैन के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अपने संस्थान से इसके प्रकाशन में रुचि लेकर मेरे साहित्यिक भविष्य को प्रोत्साहित किया है।

कांति वी. मरडिया

लीड्स, इंग्लैंड
14 मार्च 2002

अनुवादकीय

आधुनिक वैज्ञानिक युग में यह आवश्यक है कि विभिन्न धर्म-तंत्र अपनी मान्यताओं एवं आचार-विचारों को वैज्ञानिक रूप में, समकालीन भाषाओं में, अभिव्यक्त करें जिससे वर्तमान समय में धार्मिक रुचि विकसित एवं संवर्धित हो सके। इससे हमारे पुरातन साहित्य के भाव, भाषा और शब्दावली को सही रूप में समझने में सहायता मिलेगी। यही नहीं, आज के विश्वीकरण के युग में ऐसे साहित्य की भी आवश्यकता है जो प्राचीन धार्मिक आचार-विचारों को वैज्ञानिकता या विज्ञान-समन्वितता प्रदान कर सके। डा. मरडिया की अंग्रेजी पुस्तक इन मानदंडों को पूर्ण करती है। इस पुस्तक में जैन सिद्धान्तों के निरूपण के लिये डा. मरडिया द्वारा विकसित चारों स्वतःसिद्ध अवधारणायें आगमिक स्रोतों पर आधारित हैं, पर उनकी व्याख्या नवीन एवं वैज्ञानिक रूप में की गई है। इस पुस्तक के दस अध्यायों के 43 चित्र, 11 सारणी तथा अनेक आनुभविक गणितीय धारणायें इसकी रोचकता तथा वैज्ञानिकता के संवर्धन में सहायक हैं। इसके इस नये रूप का सर्वत्र स्वागत होगा। इक्कीसवीं सदी में ऐसे ही जैन धार्मिक साहित्य की आवश्यकता है।

विज्ञान का विद्यार्थी होने के कारण इस प्रकार के साहित्य के प्रणयन, अनुवाद एवं संवर्धन में मेरी रुचि रही है। इस कोटि के साहित्य के व्यापक प्रसार के लिये यह भी आवश्यक है कि इसे अनेक भाषाओं के माध्यम से प्रसारित किया जाय। डा. मरडिया की अंग्रेजी पुस्तक "साइंटिफिक फाउंडेशन आफ जैनीज्म" ने पश्चिमी जगत में पर्याप्त लोकप्रियता पाई है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि यह पुस्तक हिन्दी जगत में भी प्रसारित हो। उनके अनेक मित्रों के सुझाव ने उन्हें इस ओर प्रेरित किया एवं उन्होंने मुझे इसे हिन्दी में अनूदित करने का अवसर प्रदान किया। यह मेरे लिये सौभाग्य की बात है। मेरा यह प्रयास उनकी आशाओं के अनुरूप होगा एवं प्रसार पायगा, ऐसी आशा है।

अनुवाद सदैव भावात्मक होता है, शब्दात्मक नहीं। इस दृष्टि से मैंने लेखक के विचारों को सरल भाषा में देने का प्रयास किया है। तथापि, वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत अनेक प्रकरणों में भाषा किञ्चित् सरलता से ऊपर पायी जाती है। यह अनुवाद इसका अपवाद नहीं है। इस प्रक्रिया में किञ्चित् विस्तार, नवीन सूचनार्यें और टिप्पणी भी जोड़नी पड़ी है। इस अनुवाद को डा. मरडिया एवं सौ. पवन जैन ने स्वयं देखा है और अनुमोदित किया है। आशा है, पाठकगण इसे रोचक पायेंगे।

इस अनुवाद के मुद्रण प्रक्रिया में जाने पर डा. अनिल जैन, अहमदाबाद के माध्यम से इसके एक अप्रकाशित अनुवाद का भी पता चला है। इसे श्री एन. सी. जैन, जबलपुर ने प्रायः पांच वर्ष पूर्व किया था। यह व्याख्यात्मक तो है ही, अनेक अंशों में अपूर्ण भी है। पर इसकी कुछ शब्दावली सरल भी है, जिसका मैंने अवशिष्ट अंश में उपयोग भी किया है। उनका यह कार्य मुनिश्री 108 क्षमासागर जी के निर्देश से किया गया था। इससे जैन साधुओं तथा सामान्य श्रावकों में भी इस पुस्तक की लोकप्रियता का अनुमान होता है। मैं श्री जैन के प्रयास की सराहना करता हूँ।

मैं आशा करता हूँ कि इस अनुवाद से इसके पाठकों की व्यापकता बढ़ेगी। "प्रिंटर्स डेविल" तथा अन्य कारणों से इसमें अपूर्णतायें या त्रुटियाँ होना स्वाभाविक हैं। पाठकों से अपेक्षा है कि वे इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे जिससे भविष्य में इनमें समुचित सुधार किया जा सके।

रीवा, म.प्र. (भारत)

नंदलाल जैन

प्राक्कथन (अंग्रेजी का प्रथम संस्करण)

यह अत्यंत संतोष की बात है कि प्रोफेसर मरडिया ने मुझसे अपनी "द साइंटिफिक फाउन्डेशन ऑफ जैनीज्म" नामक-अंग्रेजी पुस्तक का प्राक्कथन लिखने के लिये कहा। मुझे प्रसन्नता है कि उन्होंने मुझे यह अवसर दिया। मेरी प्रसन्नता के अनेक कारण हैं और हम दोनों के बीच जैन धर्म के सम्बन्ध में अनेक रोचक चर्चायें हुई हैं। वास्तव में, हमने उनसे इस विषय में भी जानकारी चाही कि वे आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से जैनधर्म और दर्शन की व्याख्या क्यों करना चाहते हैं ? मुझे प्रसन्नता है कि मैंने उनकी पुस्तक का प्रारूप देखा और संभवतः मैं उन कुछ व्यक्तियों में से हूँ जिन्होंने इसका अंतिम प्रारूप देखा। मेरा विश्वास है कि उन्होंने जैन धर्म पर लिखित साहित्य के लिये, इस पुस्तक के द्वारा, महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। यहां मैं एक कारण और बताना चाहता हूँ कि इस पुस्तक में प्रकाशित विचारों की प्रशंसा का श्रेय मुझे मिलेगा और विद्वान्, बुद्धिमान और अध्ययनशील प्रो. मरडिया की पुस्तक मेरे इस विनम्र प्राक्कथन के साथ प्रकाशित होगी।

जैन धर्म एक अति प्राचीन धर्म है। जैन परम्परा लगभग सीमाविहीन (अनादि) काल से इसका उद्भव मानती है। तथापि, यह निश्चित है कि अत्यंत अविश्वासी या संशयी व्यक्ति भी इसके लगभग 3000 वर्ष के इतिहास को नकार नहीं सकता। तथ्य तो यह है कि उस समय भी यह निश्चेष्ट नहीं रहा। अनेक साधक आचार्यों और विद्वानों ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसके विकास में योगदान किया है, उसकी विवेचना और व्याख्या की है। यही कारण है कि जैनों का साहित्य इतना विशाल है। यही नहीं, यह प्रतिवर्ष विशालतर होता जा रहा है। जब से मैंने जैन धर्म का प्रारम्भिक अध्ययन चालू किया, तभी से मेरी यह धारणा रही है कि जैन सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान से पर्याप्त मात्रा में मेल खाते हैं।

जैन विचार और जैन दर्शन अनादि है, अनन्त है, लेकिन इसके प्राचीन ग्रंथ तत्कालीन भाषाओं में लिखे गये हैं और उनमें इसके विचारों को तत्कालीन वैज्ञानिक शब्दावली में व्यक्त किया गया है। वे ग्रंथ मूलतः प्राकृत और संस्कृत भाषाओं में लिखे गये हैं जो दुरुह और कठिन विचारों को सूक्ष्मता और स्पष्टता से व्यक्त करने में समर्थ हैं, परन्तु कभी-कभी भाषा की संक्षिप्तता या पुनरावृत्ति की सीमाओं के कारण उनका व्याख्यान कठिन प्रतीत हो सकता है, उनकी पारिभाषिक शब्दावली कठिन हो सकती है और जैन धर्म के किसी भी पक्ष पर लिखित आधुनिक पुस्तक में ऐसे पारिभाषिक

शब्दों की भरमार रह सकती है जिनके लिये यथार्थ और आधुनिकतः समकक्ष शब्द नहीं मिल सके हों। फलतः ऐसी पुस्तक को अच्छी तरह समझना लगभग कठिन ही है।

प्रोफेसर मरडिया सांख्यिकी जैसे श्रमसाध्य विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान हैं। वे गणितज्ञ हैं, वस्तुतः वे सांख्यिकीविद् हैं। उन्होंने राजस्थान एवं नीउकेसल (इंग्लैंड) विश्वविद्यालयों से तीन पी.एच.डी. की उपाधियां प्राप्त की हैं। साथ ही, वे जैनधर्म के भक्त व पालक हैं। इस प्रकार, वे जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों, दर्शन व नीतिशास्त्र को आधुनिक वैज्ञानिक रूप में और आधुनिक भाषा में प्रस्तुत करने में सक्षम हैं।

उनकी पुस्तक प्रकृत्या तीन भागों में विभाजित है। पहले भाग में वे आत्मा, कर्म, जीव और अजीव के सम्बन्ध में मूलभूत जैन मान्यतायें प्रस्तुत करते हैं और फिर उन्हें समेकीकृत कर विश्व, जीवन और मृत्यु से सम्बन्धित जैनों की व्याख्या देते हैं।

दूसरे भाग में वे सामान्य से विशेष की ओर जाते हैं। इसके अंतर्गत वे आत्म-विजय के अभ्यास एवं आत्म-शुद्धि के पथ का निरूपण करते हैं। इसके तीसरे भाग के दो अध्याय हैं जिनका गहन अध्ययन आवश्यक है। इसमें उन्होंने जैन तर्कशास्त्र को प्रामाणिक एवं स्वीकृतियोग्य तंत्र के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस आधार पर उन्होंने इस अध्याय में जैनों की वैज्ञानिक धारणाओं का आधुनिक भौतिक विज्ञान के मौलिक और नवीन पक्षों की दृष्टि से विवेचन किया है।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि अनेक वर्षों के गहन अध्ययन एवं परिश्रम के बाद प्रोफेसर मरडिया की यह पुस्तक अपने अंतिम प्रकाशन रूप में आ पाई है। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक दोनों प्रकार के पाठकों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी। यह उन जैनों के लिये उपयोगी होगी जो आधुनिक पश्चिमी विश्व में रहते हैं और जिन्हें प्राचीन ग्रंथों को समझना और उनकी प्रासंगिकता को पुष्ट करना कठिन लगता है। यह उन जैनेतर पाठकों के लिये भी उपयोगी होगी जो अल्प-ज्ञात जैन धर्म को आत्म-ज्ञान धर्म के रूप में केवल बुद्धिवादी जिज्ञासा के लिये ही पढ़ते हैं।

जैसा मैंने पहले ही कहा है कि यह पुस्तक जैन धर्म के साहित्य के लिये एक महत्वपूर्ण योगदान है। मैं उनके इस सफल प्रयास पर उन्हें बधाई देता हूँ और इस पुस्तक को सभी कोटि के पाठकों के लिये अनुशंसित करता हूँ।

पॉल मारेट
लाउबरो विश्वविद्यालय (इंग्लैंड)

आमुख (द्वितीय अंग्रेजी संस्करण)

यह मेरे लिये परम संतोष की बात है कि मेरी इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का विश्वव्यापी पाठकों ने अच्छा स्वागत किया। यह यू. के. (ब्रिटेन) और यू.एस.ए. (अमरीका) में तो सर्वाधिक लोकप्रिय बनी। इस पुस्तक को नई पीढ़ी के अध्ययन के लिये सफलतापूर्वक उपयोग किया गया है और यह डी-मोन्टफोर्ट विश्वविद्यालय, लेस्टर (ब्रिटेन) में स्नातक पाठ्यक्रम हेतु पाठ्यपुस्तक के रूप में चुनी गई है। पश्चिम में जैनधर्म के प्रति निरन्तर बढ़ती जागरूकता से मुझे आशा है कि जैनधर्म के वैज्ञानिक पक्षों को समझने की प्रवृत्ति भी सतत वर्धमान रहेगी।

इस पुस्तक का यह द्वितीय परिवर्धित और संशोधित संस्करण है। इसमें पहले संस्करण की अशुद्धियों को दूर किया गया है तथा अनेक परिभाषाओं को अधिक सुस्पष्ट किया गया है। इसके साथ ही, सत्य और विज्ञान के वर्धमान महत्त्व को ध्यान में रखकर जैन तर्कशास्त्र के नवें अध्याय को और भी विस्तृत किया गया है। इसके अतिरिक्त, मैंने इसमें 'उपसंहार' और जोड़ दिया है जिसमें नयी पीढ़ी के लिये इस पुस्तक के मुख्य विचारों को संक्षेपित किया गया है। इन्हें एक संगोष्ठी के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। साथ ही, इसकी संदर्भ सूची को और भी व्यापक बनाया गया है। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के बाद अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन सामने आये हैं। उदाहरणार्थ, जैनधर्म और विज्ञान से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं : (1) मुनि अमरेन्द्र विजय (1993), (2) एल. सी. जैन (1992), (3) एन.एल. जैन (1993) और (4) मुनि नंदिघोष विजय (1995)। कपासी ने भी नई युवापीढ़ी के लिये एक मौलिक पाठ्यपुस्तक (1994) लिखी है। इसके अतिरिक्त, तत्त्वार्थसूत्र का एक नया अंग्रेजी अनुवाद (टाटिया, जैनी आदि, 1994) प्रकाशित हुआ है जो भारत के बाहर प्रकाशित होनेवाला पहला अनुवाद है। यह अनुवाद सरल, प्रामाणिक तथा सुस्पष्ट है और इसमें चित्र और सारणियां भी हैं। एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशन "जैन डिक्लेरेशन ऑन नेचर" (प्राकृतिक पर्यावरण पर जैन घोषणापत्र, सिंघवी, 1990) भी है जो विश्वव्यापी प्रकृति-परिरक्षण संघ (Worldwide Fund for Nature) के अध्यक्ष प्रिंस फिलिप को समर्पित किया गया था (इन दोनों ही परियोजनाओं में लेखक को भी योगदान करने का अवसर मिला था)। इस संशोधित संस्करण में इनकी ओर भी ध्यान दिया गया है। मैं अनेक प्रेरक समीक्षकों का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस पुस्तक की समीक्षा कर मेरा उत्साह

बढ़ाया है। इनमें से डा. सी. आर. राव, एफ. आर. एस., (दी जैन), पॉल मारेट (जैन जर्नल, दी जैन), क्रिस्टी. एल. बाइली (जिन मंजरी), नेमीचंद जैन (तीर्थकर) तथा ई. आर. श्रीकृष्ण शर्मा प्रमुख हैं।

मैं विशेषतः डा. एन. एल. जैन का बहुत आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के संशोधन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। मैं श्री गुरुदेव चित्रभानु, डा. दुलीचंद जैन, और राज खुल्लर को उनकी सतत प्रेरणा के लिये, और श्री हैरी ट्रिकेट को उनकी उपयोगी समीक्षा के लिये धन्यवाद देना चाहता हूँ। श्री यार्कशायर जैन फाउंडेशन के सदस्यों ने अपनी बैठकों में इस पुस्तक के संशोधन में बहुत योगदान किया है। मैं अपनी पत्नी सौ. पवन के सुझावों से बहुत लाभान्वित हुआ हूँ तथा मुझे परिवार के अन्य सदस्यों—बेला, रघु, हेमंत, प्रीति, नीता, और हिमांशु से भी बहुत सहयोग मिला है। साथ ही, सौ. पवन ने कृपाकर इस संस्करण के प्रूफ देखे हैं तथा नयी विषय-सूची तैयार की है।

मुझे विश्वास है कि इस संस्करण के उत्तम गुणवत्ता के कागज पर मृद्वित होने तथा इसके फलस्वरूप इसके चित्रों की गुणवत्ता के अभिवर्धित होने से पाठकों को इसके पढ़ने में और भी अधिक प्रसन्नता होगी।

पर्युषण, 25 अगस्त, 1995

के. वी. मरडिया

आमुख

प्रथम अंग्रेजी संस्करण

इधर कुछ समय से जैन धर्म को समझने और आधुनिक संदर्भ में उसकी उपयोगिता के मूल्यांकन के लिये जैन और जैनेतर जगत में पर्याप्त जागरूकता आई है। विदेशों के विविध-संस्कृतिवाले युवक गण आधुनिक परिवेश में इस धर्म की प्रासंगिकता को समझने का प्रयास कर रहे हैं। मेरा विचार है कि जैन धर्म की नींव वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है जो प्रत्येक व्यक्ति द्वारा मूल्यांकित की जा सकती है। उदाहरणार्थ, मैंने चार स्वतःसिद्ध अवधारणायें (या सूत्र एक्सियम, आधारभूत मौलिक मान्यतायें) प्रकल्पित की हैं जिन पर, मेरे विचार से, जैन धर्म की स्थापना हुई है। ये स्वतःसिद्ध अवधारणायें जैन धर्म के विवरण की तुलना में उसके सार पर अधिक केन्द्रित हैं।

इस पुस्तक के लेखन का प्रारम्भ 1975 में उस समय हुआ जब मैंने लीड्स विश्वविद्यालय, ब्रिटेन के सांख्यिकी के प्रोफेसर के रूप में उद्घाटन भाषण दिया था और जैन धर्म की सांख्यिकी विज्ञान के साथ प्रासंगिकता निदर्शित की थी। मैंने अपनी चार स्वतःसिद्ध अवधारणाओं को सर्वप्रथम लेस्टर की एक छोटी सभा में 1979 में प्रस्तुत किया था। इस बैठक में डा० नटूभाई शाह और प्रो. पॉल मारेट भी उपस्थित थे। सभी ने इन अवधारणाओं का प्रेरक स्वागत किया। इन्हीं दिनों बर्कले विश्वविद्यालय केलिफोर्निया, अमरीका के प्रोफेसर पी. एस. जैनी की "दी जैन पाथ आव प्योरीफिकेशन" (अंतरंग शुद्धि का जैन मार्ग, 1979) प्रकाशित हुई। इसने मेरी रुचि को पुनर्दीप्त किया। मेरी यह पुस्तक प्रोफेसर जैनी के ग्रंथ की बहुत ऋणी है। इस पुस्तक के विवेचनों में जैन आगमों के जो स्रोत हैं, वे प्रायः सभी उनकी पुस्तक में पाये जाते हैं और इसीलिये उनकी यहां पुनरावृत्ति नहीं की गई है। जैन पारिभाषिक शब्दों की वर्तनी (स्पेलिंग) भी प्रायः जैनी जी की पुस्तक के अनुसार ही दी गई है। उनकी पुस्तक के अंत में जैन पारिभाषिक शब्दावली भी दी गई है जो यह पाठक को यह अनुभव करायगी कि जैन धर्म में 'कर्म' और 'योग' जैसे पारिभाषिक शब्दों के अर्थ हिन्दू धर्म में प्रचलित अर्थ से पूर्णतः भिन्न हैं। इसका अर्थ यह है कि इन शब्दों के लोकप्रिय

अंग्रेजी अर्थ जैनों के संदर्भ में उपयुक्त नहीं हैं। (कुछ प्रमुख शब्द देखिये जो आगे दिये गये हैं।)

जैन धर्म के प्राथमिक परिचय के लिये, मैं पाठकों को पॉल मारेट की पुस्तक "जैनीज्म एक्स्प्लेन्ड" (जैनधर्म की व्याख्या, 1989) और श्री विनोद कपासी की पुस्तक "जैनीज्म फार यंग परसन्स" (युवाओं के लिये जैनधर्म, 1985) पढ़ने का सुझाव देना चाहता हूँ। प्रो० उर्सुला किंग (1987) के एक सद्यःप्रकाशित लेख का अध्ययन भी उपयोगी होगा।

इस पुस्तक के अध्ययन के लिये मैं यह मानता हूँ कि पाठक साधारण भौतिकी एवं सांख्यिकी से परिचित होंगे। इससे इस पुस्तक में स्पष्ट वैज्ञानिक और सचित्र निरूपण हो सका है जो अन्यथा संभव नहीं हो पाता।

अनेक जैन युवक विश्वास की अपेक्षा जन्मजात रूप में अपने धर्म का पालन करते हैं। भारत में लगभग 90 लाख जैन हैं और विदेशों में भी लगभग एक लाख जैन हैं। मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक नयी पीढ़ी को बुद्धिवादी विश्वासपूर्ण जैन बनाने में सहायक होगी।

इसके प्रथम अध्याय में जैनधर्म का संक्षिप्त परिचय दिया गया है और फिर चार स्वतःसिद्ध अवधारणाओं की सूची दी गई है। अध्याय 2 से 7 में इन अवधारणाओं का परिचय दिया गया है और आधुनिक संदर्भ में उनकी तर्कसंगतता को विवेचित किया गया है। इन अवधारणाओं के कारण कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदु भी उभरे हैं जिन पर प्रकाश डाला गया है। अध्याय 8 में जैनों के मूलभूत आवरण और अभ्यासों की रूपरेखा दी गई है। अध्याय 9 में जैन तर्कशास्त्र सम्बन्धी कुछ धारणायें दी गई हैं। अध्याय 10 में यह निरूपित किया गया है कि जैन धर्म और आधुनिक विज्ञान एक-दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित हैं। प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर स्वरभेद (डाइक्रिटिकल मार्क्स, स्वर विशेषक चिह्न), के साथ मूल पारिभाषिक शब्द तथा उनके अंग्रेजी समकक्ष शब्द दिये गये हैं। इससे पाठक को समकक्ष शब्द तथा स्वरभेद विशेषक वर्तनी को जानने में सहायता मिलेगी।

पुस्तक के प्रथम परिशिष्ट में भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र दिया गया है। द्वितीय परिशिष्ट में जैन आगमों के सम्बन्ध में जानकारी दी गई है जिनसे उपरोक्त स्वतःसिद्ध अवधारणायें निष्कर्षित की गई हैं। जैनधर्म में, ईसाई धर्म की एकल पुस्तक 'बाइबिल' के समान कोई एक पवित्र पुस्तक

नहीं है। श्वेताम्बर जैनों के अनुसार, इन आगमों की उच्चतर संख्या 45 तक है जब कि दिगम्बरों के अनुसार, यह संख्या 26 तक सीमित है। परिशिष्ट 3 अ में आगमों के वे मूल उद्धरण दिये गये हैं जो उपरोक्त अवधारणाओं के आधार हैं। साथ ही, परिशिष्ट 3 ब में कुछ महत्त्वपूर्ण उद्धरण दिये गये हैं जिनका इस पुस्तक में स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है। परिशिष्ट 4 में आत्म-शुद्धि के चरणों की महत्त्वपूर्ण अवधारणा को एक सरल सांप-सीढी के मनोरंजक क्रीड़ा-निदर्शन के माध्यम से समझाया गया है। पुस्तक के अंत में संदर्भ-ग्रंथ सूची एवं अनुक्रमणिका भी दी गई है।

जो लोग जैन धर्म के सिद्धान्तों को सीधे ही आगमिक स्रोतों से जानना चाहते हैं, उन्हें आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र पढ़ना चाहिये। इसके अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं। इसके लिये कृपया इस पुस्तक की संदर्भ-ग्रंथ सूची देखें। फिर भी, इसके प्राथमिक अध्ययन के समय पाठक को जैन धर्म के व्यापक वर्गीकरण, उप-वर्गीकरण आदि को गंभीरता से नहीं लेना चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर वह जैन-सिद्धान्तों के सार को जानने के बदले अन्य विवरणों में भटक जायगा। ये व्यापक रूपरेखायें अनेक सदियों तक महत्त्वपूर्ण रहीं, क्योंकि उन दिनों मूलभूत सिद्धान्त, सामान्यतः, मौखिक रूप में ही संचारित किये जाते थे।

मैं हैरी ट्रिकेट के प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के विविध प्रारूपों को पढ़ा और रचनात्मक सुझाव दिये। मैं जैन समाज, यूरोप के अध्यक्ष डा. नटूभाई शाह, प्रो. पी. एस. जैनी, गुरुदेव श्री चित्रभानु, गणेश ललवानी, पॉल मारेट, विनोद कपासी, नाइजेल स्मीटन, अल्लन वाटकिन्स, विजय जैन, टिम हैन्सवर्थ, और अपने स्वर्गीय मित्र कुंदन जोगेटर का भी आभारी हूँ। मेरी पत्नी सौ. पवन, मेरे बच्चे-बेला, हेमंत और नीता तथा लीड्स जैन ग्रूप के सदस्यों के सुझावों से भी मैं बहुत लाभान्वित हुआ हूँ। इन सभी का मैं आभारी हूँ।

इस पुस्तक में मैंने जैन धर्म की विविध धारणाओं को, जहां तक संभव हो सका है, वस्तुनिष्ठ दृष्टि से आधुनिक विज्ञान के आधार पर पुनर्व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। इस प्रक्रिया में सबसे बड़ी कठिनाई यह रही है कि जैन पारिभाषिक शब्द संस्कृत और प्राकृत भाषाओं पर आधारित हैं जबकि आधुनिक विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली यूनानी भाषा पर आधारित है। मैं यह मानता हूँ कि विज्ञान के एक सीमित क्षेत्र का विद्यार्थी अनेक वर्षों के श्रम के बाद शोध-उपाधि को प्राप्त करता है। इसी

प्रकार हम यह आशा करते हैं कि जैन धर्म के पारिभाषिक आधार को समझने के लिये भी उतना ही समर्पण-परक श्रम होना चाहिये। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि एलबर्ट आइंस्टीन के सापेक्षवाद को, विशेषज्ञों तक को, समझने के लिये कितना समय लगा था। अन्त में, मैं जैनों की इस मान्यता को जोर देकर कहना चाहता हूँ कि जैन विज्ञान की सत्यता का अनुभव तभी हो सकता है जब व्यक्ति 'केवल ज्ञानी' या 'अनंत ज्ञानी' हो जाये।

लीड्स, यू.के.

दीवाली, 9 नवंबर 1988

कान्ति वी. मरडिया

विशेष आभार प्रदर्शन

इस पुस्तक के अधिकांश अध्यायों के विवेचन प्रोफेसर पद्मनाभ एस. जैनी की पुस्तक "दी जैन पाथ आव प्योरीफिकेशन" (अंतरंग शुद्धि का जैन मार्ग, 1979), बर्कले यूनिवर्सिटी प्रेस, बर्कले, केलिफोर्निया, अमेरिका (जो मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली से भी 1979 में पुनः प्रकाशित हुई है) की आधारभूत सामग्री पर पर्याप्त मात्रा में आधारित है। विशेषतः मैं उनकी पुस्तक के निम्नलिखित पृष्ठों की सामग्री के लिये आभार मानता हूँ जिसे मैंने अपनी इस पुस्तक में उद्धृत किया है :

- (1). अध्याय 1 पृष्ठ 32
- (2). अध्याय 3 पृष्ठ 98
- (3). अध्याय 4 पृष्ठ 109, 112-4, 125-7
- (4). अध्याय 5 पृष्ठ 140-1, 147, 150
- (5). अध्याय 6 पृष्ठ 159, 168-69, 171
- (6). अध्याय 8 पृष्ठ 252-3

मूल पारिभाषिक शब्द (Key-Words)

इस पुस्तक के प्रत्येक अध्याय के अंत में संस्कृत और प्राकृत के मूल पारिभाषिक शब्द दिये गये हैं और उनके अनुरूप अंग्रेजी अनुवाद भी दिया गया है। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि निम्नलिखित मूल शब्दों का यथार्थ अनुवाद नहीं हो सकता, लेकिन उनका उपयोग इस पुस्तक में बारबार किया गया है। जो लोग जैनधर्म से परिचित नहीं हैं, उनके लिये इन पारिभाषिक शब्दों और उनके अर्थ का ज्ञान उपयोगी होगा।

1. जैन : (अ) संज्ञा : जैनधर्म का पालन करनेवाला
(ब) विशेषण : जैन धर्म से सम्बन्धित
2. दिगम्बर/श्वेताम्बर : जैनों के दो प्रमुख सम्प्रदाय :
दिगम्बरों के साधु अचेल या नग्न होते हैं
और श्वेताम्बरों के साधु सवस्त्र होते हैं।
3. कर्म/कर्म पुद्गल : वह तत्त्व जो आत्मा के पुनर्जन्म की नियति निर्धारित करता है। यह भौतिक कर्म कर्णों-कार्मों से बने होते हैं।
4. मोक्ष : पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त करने के बाद की अवस्था (निर्वाण)
5. आत्मा/जीव : कर्म-पुद्गलों से संयुक्त या शुद्ध चेतन द्रव्य
6. तीर्थंकर/जिन : जैनों के धर्म-प्रवर्तक शलाकापुरुष, जैनों के सर्वज्ञ आध्यात्मिक देव पुरुष
7. योग : शरीर, मन और वचन की प्रवृत्तियां

विषय सूची

समर्पण	कान्ति और पवन मरडिया	iii
प्रकाशकीय	डा. सागरमल जैन	v
हिन्दी संस्करण का आमुख	के. वी. मरडिया	vii
अनुवादकीय	एन. एल. जैन	ix
प्राक्कथन (अंग्रेजी का प्रथम संस्करण)	पॉल मारैट	xi
आमुख द्वितीय अंग्रेजी संस्करण	के. वी. मरडिया	xiii
आमुख प्रथम अंग्रेजी संस्करण	के. वी. मरडिया	xv
विशेष आभार प्रदर्शन		xix
मूल पारिभाषिक (जैन) शब्द		xx
विषय सूची		xxi
अध्याय 1. जैन और जैन धर्म		1—10
1.1 विषय प्रवेश	1	
1.2 जैन धर्म के कुछ प्रमुख सिद्धान्त	3	
1.3 स्वतःसिद्ध अवधारणात्मक उपगमन	6	
1.4 पारिभाषिक शब्दावली	10	
अध्याय 2. आत्मा और कर्म—पुद्गलों का सिद्धान्त (स्वतःसिद्ध अवधारणा 1)		11—23
2.1 स्वतःसिद्ध अवधारणा 1	11	
2.2 जैनों की मूलभूत धारणाएँ	12	
2.2.1 आत्मा	12	
2.2.2 कार्मन कण और कर्म—पुद्गल	12	
2.2.3 आत्मा और कर्म की अन्योन्यक्रिया	13	
2.3. पारिभाषिक शब्दावली	13	
2.3.1 कर्मबंध की प्रक्रिया	13	
2.3.2 कार्मिक घनत्व	14	
2.3.3 दीर्घकालिक साम्य की अवस्था	17	
2.3.4 नव तत्त्व	18	
2.4. महत्त्वपूर्ण सदृशतायें	20	

2.4.1	चुम्बकत्व	20
2.4.2	अन्य विविध अनुरूपतायें	21
2.5	पारिभाषिक शब्दावली	22
अध्याय 3 : जीवन का अनुक्रम :		
(स्वतःसिद्ध अवधारणा 2)		24— 31
3.1	स्वतःसिद्ध अवधारणा 2	24
3.2	जीवन के यूनिट और जीवन धुरी/अक्ष	24
3.3	इंद्रियों की संख्या या चेतना (बुद्धि) के आधार पर जीवन की धुरी के विभाग	25
3.4	चार गतियां या अस्तित्व की अवस्थायें	28
3.5	पारिभाषिक शब्दावली	31
अध्याय 4 : जन्म और मरण के चक्र		
(स्वतःसिद्ध अवधारणा 3)		32—48
4.1	स्वतःसिद्ध अवधारणा 3	32
4.2	कार्मिक घटक	32
4.3	किसका परिवहन होता है ?	35
4.4	छह द्रव्य	37
4.5	जैनों की कण-भौतिकी	43
4.6	जीवन चक्रों का व्यावहारिक निहितार्थ	44
4.7	सामान्य समीक्षा	46
4.8	पारिभाषिक शब्दावली	46
अध्याय 5 : कर्मों का प्रायोगिक बंध		
(स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 अ)		49—60
5.1	स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 अ	49
5.2	व्यवहार में कर्म के घटक	50
5.3	भावात्मक क्रियायें और चार कषाय	51
5.4	कषायों की तरतमता या कोटि	54
5.5	पारिभाषिक शब्दावली	59
अध्याय 6. कार्मन-कणों का सीमांत अवशोषण		
(स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 ब)		61—71
6.1.	स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 ब	61
6.2.	स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 ब के निहितार्थ	63
6.3.	हिंसा का भाव पक्ष	65
6.4.	जैन विश्वीय कालचक्र	67
6.5.	पारिभाषिक शब्दावली	70

अध्याय 7. आत्म-विजय का मार्ग	
(स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 स)	72
7.1 स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 स	72
7.2 आत्म-शोधन की धुरी और आत्म-शोधन के चौदह गुणस्थान	73
7.3 पहले चार गुणस्थान	75
7.3.1. प्रथम चार चरणों की परिभाषा और आंतरिक गति	75
7.3.2. चतुर्थ गुणस्थान का वर्णन और दृश्य संकेत	77
7.4 पांचवें गुणस्थान से ग्यारहवां गुणस्थान	79
7.5 बारहवें से चौदहवां गुणस्थान	80
7.6 गुणस्थानों के स्तरों और संक्रमणों का योजनाबद्ध निरूपण	81
7.7 विभिन्न गुणस्थानों में अन्योन्य-संक्रमण	86
7.8 पारिभाषिक शब्दावली	86
अध्याय 8. शुद्धिकरण के उपाय	89—104
8.1. विषय प्रवेश	89
8.2. सम्यक्त्व के आठ अंग	89
8.3. जैन श्रावकों के लिये पांचवां गुणस्थान	90
8.4. छठवां गुणस्थान और साधु	91
8.5. उच्चतर गुणस्थान और ध्यान	95
8.6. तीन रत्न	97
8.7. आत्मिक विकास की प्रक्रिया का परम्परागत घी-निर्माण एवं आधुनिक मोटर-चालन प्रक्रम से सादृश्य	99
8.8. पारिभाषिक शब्दावली	103
अध्याय 9. जैन तर्कशास्त्र	105—113
9.1. विषय प्रवेश	105
9.2. अनुमान के पांच अवयव	107
9.3. सापेक्षवाद या पारिस्थितिक कथन का सिद्धान्त या स्याद्वाद	108

9.4.	सापेक्ष समग्रता का सिद्धन्त	109
9.5.	विवेचन	112
9.6.	पारिभाषिक शब्दावली	113
अध्याय 10.	जैनधर्म और आधुनिक विज्ञान	114-125
10.1	अनुरूपतायें या उपमायें	114
10.2	आधुनिक कण-भौतिकी	116
10.3	प्रकृति में विद्यमान चार बल	119
10.4	कुछ और उपमायें	122
10.5	उपसंहारी टिप्पणी	124
उपसंहार		126.130
1.	कार्मन और कर्मों का व्यक्तिगत कंप्यूटर	126
2.	कर्म-बंध और शाकाहार	127
3.	कार्मन कण और ज्ञान का आवरण	128
4.	आत्मा के शुद्धिकरण का मार्ग	128
5.	आत्म संयम और पर्यावरण की समस्यायें	129
परिशिष्ट		
परिशिष्ट 1.	भगवान महावीर का जीवन वृत्त	131-135
प.1.1	लक्ष्य का अनुसरण और बोधि-प्राप्ति	132
प.1.2	तीर्थंकर के रूप में महावीर का जीवन	133
परिशिष्ट 2.	जैन आगम ग्रंथ	134-141
प.2.1	प्रमुख आगम ग्रंथ	134
प.2.2	द्वितीयक जैन आगम	139
परिशिष्ट 3.	उद्धरण	142-143
अ.	स्वतःसिद्ध अवधारणायें	142
ब.	ग्रंथों के उद्धरण : मूल पाठ	142
परिशिष्ट 4.	गुणस्थान और सांप-सीढी का खेल	144-145
संदर्भ ग्रंथ सूची		146-152
अ.	प्राकृत, संस्कृत या हिन्दी के ग्रंथ और उनके अनुवाद	146
ब.	आधुनिक ग्रंथ	148
शब्दावली अनुक्रमणिका		153-159
सामान्य शब्दानुक्रमणिका		160-166

अध्याय 1

जैन और जैनधर्म

1.1 विषय प्रवेश

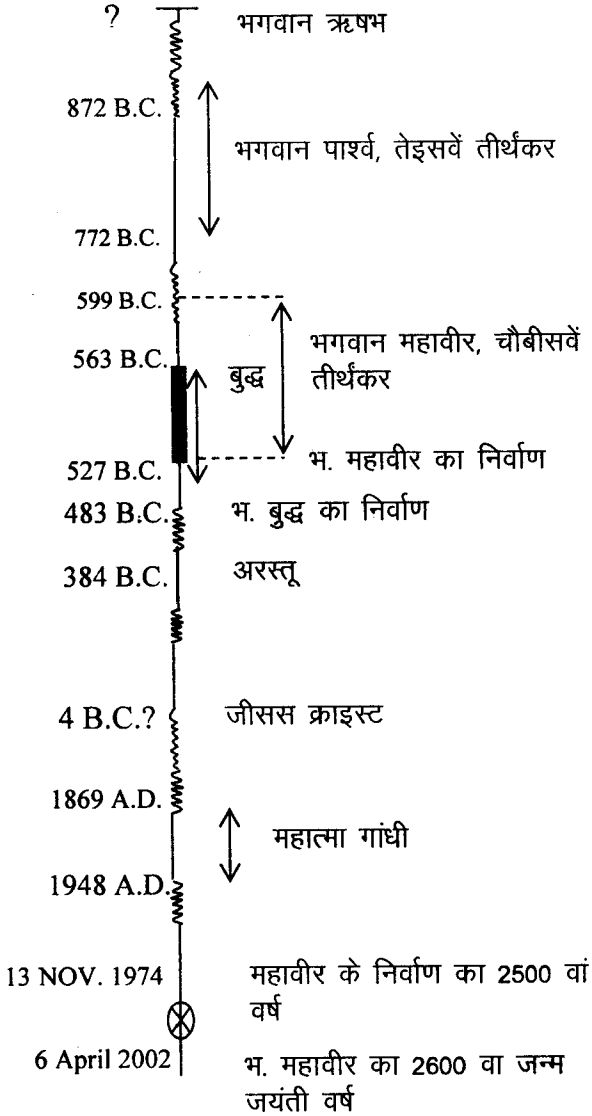
गमो अरिहंताणं

जैनों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रार्थना मंत्र की यह प्रथम पंक्ति है। इसका अर्थ है, "मैं उस व्यक्ति को जिसे अरिहंत, अर्हत् कहा गया है, प्रगाढ़ नमस्कार करता हूँ जिसने अपने राग-द्वेष रूपी अंतरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली हो।" आदरभाव की यह अभिव्यक्ति व्यक्ति के धर्म, जाति या सामाजिक स्तर की दृष्टि से निरपेक्ष है। यह गुण-विशेषित नमस्कार है।

जैन शब्द प्राचीन भारतीय भाषा-अर्धमागधी के "जिण" शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। यह भाषा 2500 वर्ष या उससे भी पहले भारत के कुछ भागों (विशेषतः मगध और कोशल) की जनभाषा थी। इस 'जिण' शब्द का अर्थ वह व्यक्ति है जिसने आध्यात्मिक विजय प्राप्त कर ली हो, जिसने राग-द्वेष जैसे दुर्गुणों को पूर्णतः जीत लिया हो। 'जिण' शब्द का संस्कृत रूप 'जिन' है। इसका भी यही अर्थ है। इस आधार पर जैनधर्म का अर्थ वह धर्म है जो जैनों द्वारा पालन किया जाता है। तथापि, हम धर्म की अपेक्षा आत्मविजय के मार्ग को महत्त्व देने के लिये जैनधर्म को 'जैनत्व' (Jain-ness) के रूप में समझेंगे। वस्तुतः जैनों द्वारा पारस्परिक अभिवादन के समय "जय जिनेंद्र" कहा जाता है। इस शब्द का अर्थ "परमोत्तम जिन की जयकार या उन्हें आदरभाव" है।

सामान्य रूप से कथन करने पर यह कहा जाता है कि जैनधर्म की स्थापना तीर्थकरों ने की थी। तीर्थकर वे महापुरुष या शलाकापुरुष हैं जो जीवन के अशांत समुद्र को पार करने का मार्ग दिखाते हैं। वे आध्यात्मिक पथ के मार्गदर्शक हैं। तीर्थकर वर्तमान कालचक्र के अवसर्पिणी युग में चौबीस हुए हैं। इसके अतिरिक्त, भूतकाल और भविष्यकाल में भी चौबीस तीर्थकर हुए हैं और होंगे। इस प्रकार, तीर्थकर परम्परा का एक अविरत चक्र है। इसी कारण जैनधर्म को अनादि कहा जाता है। वर्तमान युग के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव थे।

जैन परम्परा के अनुसार, ऋषभदेव अनेक युगों पूर्व हुए हैं। लेकिन जैनधर्म की ऐतिहासिकता एकमत से तेईसवें तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ, लगभग 2800 वर्ष पूर्व (परंपरागत तिथि 877-777 ई.पू.) के समय से मानी जाने लगी है।



चित्र 1.2 जैन इतिहास की कुछ महत्वपूर्ण तिथियाँ, यहाँ कुछ अन्य तिथियाँ भी दी गई हैं (यह रेखाचित्र रैखिक पैमाने पर नहीं है)

जैन न्याय और दर्शन तो चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के समय से प्रमुखता में आये। भगवान महावीर का जन्म 599 ईसा पूर्व (कनु पिल्लई, 1973 के अनुसार, सोमवार, मार्च 27, 599 ई.पू.) और निर्वाण 527 ई.पू. (मंगलवार, अक्टूबर 15, 527 ई.पू.) में हुआ था। वे गौतम बुद्ध (563-483 ई.पू.) के समकालीन थे। वे दोनों 36 वर्ष तक सम-व्याप्त रहे, परन्तु एक-दूसरे से कभी नहीं मिले। अतः यह एक साधारण बात है कि उन दोनों धर्मनेताओं के विषय में और उनके धर्म के विषय में भ्रान्ति हो। तथापि, इनकी प्रतिमाओं से उन्हें विभेदित किया जा सकता है। बुद्ध की प्रतिमायें सवस्त्र होती हैं जबकि महावीर की प्रतिमायें बिना वस्त्र के होती हैं (चित्र 1.1 देखें)। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जब बुद्ध ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया में संलग्न थे, तब महावीर अपने जीवन के चरम उत्कर्ष पर थे। महावीर के जीवन के पूर्ण विवरण के लिये इस पुस्तक का परिशिष्ट - 1 देखिये। इन तिथियों को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि यूनान के संत अरस्तू 384 ई.पू. में उत्पन्न हुए थे और जीसस क्राइस्ट लगभग 4 ई.पू. में उत्पन्न हुए थे। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि भारत में महावीर का 2500 वां निर्वाण महोत्सव 13 नवम्बर 1974 से 4 नवम्बर 1975 तक मनाया गया था। ये सभी महत्त्वपूर्ण तिथियाँ चित्र 1.2 में संक्षेपित की गई हैं। (वर्ष 2001-02 में भगवान महावीर का 2600 वां जन्म महोत्सव मनाया जा रहा है)। जैनधर्म के अनेक प्रशंसकों में महात्मा गांधी का नाम प्रसिद्ध है जो श्रीमद् राजचंद भाई जैन से बहुत प्रभावित हुए थे (देखिये, एस. एन. हे., 1970)।

1.2 जैनधर्म के कुछ प्रमुख सिद्धान्त

जैनधर्म का सर्वाधिक प्रमुख सिद्धान्त मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा है। यह केवल मनुष्य मात्र के प्रति ही नहीं, वरन् सभी निम्न कोटि के जीवों के प्रति भी लागू होता है। इसीलिये प्रायः सभी जैन अनुयायी शाकाहारी होते हैं। वे शहद और शराब भी नहीं लेते। उनका विश्वास है कि इनमें सूक्ष्म जीवन होता है, सूक्ष्म जीव होते हैं।

इसके अन्य प्रमुख पहलू हैं : 1. सत्यवादिता 2. चोरी न करना 3. व्यक्तिगत परिग्रह या संपत्ति की मर्यादा एवं 4. अमैथुनी भावनायें। ध्यान और सामान्य आत्म-संयम भी जैनधर्म के अंग हैं।

जैन न तो किसी भी ऐसे बाहरी ईश्वर में विश्वास करते हैं जिसने संसार रचा हो और जो उसका पालन-पोषण करता हो और न ही वे किसी उद्धारक के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। जैनों का मत है कि व्यक्ति को सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र के माध्यम से स्वयं ही अपना आत्म-उद्धार करना है या मुक्ति प्राप्त करनी है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मुक्ति या निर्वाण जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र को समाप्त कर देता है। जिस समय आत्मा मुक्ति प्राप्त करता है, वह अपने अनन्तानंद और अनन्तज्ञान में अवरिथत हो जाता है।

जैनों में न तो ईसाइयों के पोप (प्रधान धर्माध्यक्ष) के समान कोई एक सर्वाधिकार सम्पन्न नेता है और न ही कोई सर्वोच्च अधिकार सम्पन्न प्रामाणिक व्यक्ति है। तथापि, इनमें कुछ साधु, गुरु या शिक्षक, उपाध्याय और श्रावक नेता होते हैं जिनका वे विशेष आदर करते हैं। इनकी अनेक पवित्र पुस्तकें या आगम (स्क्रिपचर्स) हैं (परिशिष्ट 2 देखियें) लेकिन ईसाइयों की बाइबिल के समान एकमात्र पवित्र पुस्तक नहीं है। फिर भी, (दूसरी सदी ईस्वी का) तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्म की एक सर्वाधिक मान्य एवं सर्वसमावेशी पुस्तक है। इन सब माध्यमों के बावजूद भी, इस मत में प्रत्येक व्यक्ति को सत्य की खोज स्वयं करनी पड़ती है क्योंकि यहां न तो कोई पुरोहित होता है और न ही ऐसी पवित्र पुस्तकें हैं जो सभी समस्याओं या प्रश्नों के उत्तर दे सकें। जैनधर्म के सिद्धांतों में स्वयं-सत्यापन की विवक्षा रहती है जिससे इसका अनुयायी प्रयोगशाला में एक शोधार्थी के समान स्वयं सत्य की खोज कर सके।

जैनों के 'दिगम्बर' (अचेल) और श्वेताम्बर (श्वेतपट या सचेल) प्रमुख सम्प्रदाय हैं। ये दोनों ही सम्प्रदाय मूर्तिपूजा में विश्वास करते हैं। लेकिन इनकी मूर्तियां भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। श्वेताम्बरों की मूर्तियों की आंखें, ओष्ठ व धड़ मंडित, जड़ित या सज्जित होते हैं।

दिगम्बर पंथ का विश्वास है कि साधुओं को सभी चीजों-यहां तक कि वस्त्रों का भी त्याग कर देना चाहिये। इसके विपर्यास में, श्वेताम्बर साधु सफेद वस्त्र पहनते हैं। दिगम्बरों के अनुसार जिन (भगवान) किसी भी

सांसारिक क्रिया में भाग नहीं लेते और उनकी शारीरिक क्रियायें भी नहीं होतीं।

सुधारवादी आंदोलन भी हुए हैं। श्वेताम्बरों के दो उप-सम्प्रदाय-स्थानकवासी (स्थानक में रहनेवाले) और तेरापंथी (तेरा-जिन का पंथ माननेवाले), मंदिरों और मूर्तियों में विशेषतः विश्वास नहीं करते हैं। इनके अतिरिक्त, दिगम्बरों का भी एक उप-सम्प्रदाय-तारणपंथ भी मूर्तिपूजा का विरोधी है। सारणी 1.1 में विभिन्न जैन सम्प्रदायों एवं उप-सम्प्रदायों का समग्र विवरण दिया गया है जिसमें सम्प्रदायों के संस्थापक, प्रारम्भ काल एवं विभेदक लक्षण भी दिये गये हैं। इनकी विभिन्न बाह्य प्रमुखताओं के बावजूद भी सभी जैन मतावलम्बी जैनधर्म की मौलिक मान्यताओं एवं चौबीस तीर्थकरों में विश्वास करते हैं।

सारणी 1.1 : जैनो के विभिन्न सम्प्रदाय, उनके संस्थापक, प्रारम्भकाल और विभेदक लक्षण

सम्प्रदाय	संस्थापक	प्रारम्भकाल	विशेषतायें
1. दिगम्बर	भद्रबाहु	300 ई.पू.	साधु अचेल होते हैं, मूर्तिपूजक, स्त्रियों की मुक्ति नहीं होती
सुधारवादी आंदोलन			
1 अ. तारण पंथ	तारण स्वामी	सोलहवीं सदी	मंदिर नहीं होते, प्रार्थना/स्वाध्याय भवन होते हैं।
1 ब. अन्य,	बनारसीदास, टोडरमल	सोलहवीं सदी अठारवीं सदी	पूर्ण संयम, मंदिरों में विधानादि नहीं होता।
2. श्वेताम्बर	स्थूलभद्र	300 ई.पू.	श्वेत-वस्त्री साधु, मूर्तिपूजक, स्त्रियों की मुक्ति हो सकती है।
सुधारवादी आंदोलन			
2 अ. स्थानकवासी	लोकाशाह	पंद्रहवीं सदी	मंदिर व मूर्तिपूजा नहीं, साधु मुँहपट्टी लगाते हैं
2 ब. तेरापंथी	आचार्य भीखणजी	1760 ई.	मंदिर एवं मूर्तिपूजा नहीं, साधुओं को सहायता, अन्य को नहीं,



चित्र 1.1 चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर की मूर्ति (श्वेताम्बर मूर्ति, इसमें आंख, ओष्ठ एवं धड़ सज्जित व चिह्नित हैं)। भगवान महावीर की मूर्ति की पहचान उसके आधारतल पर सिंह के चिह्न से की जाती है (सिरोही, राजस्थान के मंदिर की मूर्ति)।

(चित्र 1.1 में महावीर की श्वेताम्बर मूर्ति देखिये और चित्र 1.3 में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की दिगम्बर मूर्ति देखिये।)

1.3 स्वतःसिद्ध अवधारणात्मक या सूत्रात्मक उपगमन

आध्यात्मिक उन्नति का प्रत्येक मार्ग कुछ विशिष्ट धारणाओं या विश्वासों के साथ प्रारंभ होता है। इस पुस्तक में मैंने यह बताया है कि जैनों के इन विश्वासों को चार मौलिक एवं स्वतःसिद्ध अवधारणाओं या सूत्रों के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है जिसके आधार पर समग्र जैन अध्यात्म पथ समझा जा सकता है। ये स्वतःसिद्ध अवधारणायें या सूत्र निम्न प्रकार के प्रश्नों का समाधान देती हैं :

1. हम अपूर्ण क्यों हैं ?
2. अपनी अपूर्णता को दूर करने के लिये हमें क्या करना चाहिये ?

यदि हम वास्तव में, अमर होते पूर्ण और अनन्त आनंदमय होते जहां हमारी सारी इच्छायें पूर्ण होतीं, तो हमारे लिये किसी भी आध्यात्मिक पथ का कोई महत्त्व नहीं होता। लेकिन, वस्तुतः हममें से प्रत्येक प्राणी अपने अस्तित्व के मुख्य बिंदु के रूप में सुख और दुःख भरे जीवन में विविध प्रकार के उत्थान और पतन के चक्र से गुजरता है।

इसके अतिरिक्त, हमारे सामने सभी प्रकार के प्राणी हैं जो इन सांसारिक प्रक्रियाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया प्रदर्शित करते हैं। विभिन्न प्राणियों में इस प्रकार के भेद क्यों पाये जाते हैं ? कोई व्यक्ति विकलांग क्यों पैदा होता है ? इस संसार में अच्छे और बुरे आदमी क्यों हैं ? क्या संसार में कोई ऐसा है जो 'पूर्ण' हो ? क्या रोग, मृत्यु और विनाश अनिवार्य हैं ? इस संसार में जीवन या जीवों के विभिन्न रूप क्यों हैं ? जैन दृष्टिकोण से इन सभी प्रश्नों का उत्तर देने के लिये, मैंने चार स्वतःसिद्ध अवधारणाओं या सूत्रों की योजना की है, जो निम्नलिखित हैं :

स्वतःसिद्ध अवधारणा-1 : आत्मा कर्म-पुद्गलों से संदूषित स्थिति में रहता है और यह चाहता है कि वह पूर्ण परिशुद्ध हो।

स्वतःसिद्ध अवधारणा-2 : संसार के प्राणी एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, क्योंकि उनके साथ सम्बद्ध कर्म-पुद्गलों की प्रकृति और घनत्व परिवर्ती होते हैं।



चित्र 1.3 भगवान पार्श्व, तेईसवें तीर्थंकर (दिगम्बर प्रतिमा); इनकी आंखें, ओष्ठ और धड़ सज्जित या मंडित नहीं हैं। भ. पार्श्व की मूर्ति की पहचान उसके आधारतल पर बने फनवाले सर्प के चिह्न से की जाती है। यह मूर्ति लीड्स, यू.के. की है।

स्वतःसिद्ध अवधारणा-3 : कर्म बंधन आत्मा को जीवन के अस्तित्व की विभिन्न अवस्थाओं के चक्र में आबद्ध करता है।

स्वतःसिद्ध अवधारणा-4 अ : कर्म का बंध मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के कारण होता है।

स्वतःसिद्ध अवधारणा-4 ब : अपने प्रति अथवा अन्य के प्रति की जानेवाली हिंसा नये अतिभारी पापमय कर्म-पुद्गलों का बंध करती है। इसके विपर्यास में, जीवों को सकारात्मक अहिंसकवृत्ति के साथ मोक्षमार्ग पर जाने की क्रियाओं में सहायक होना नये लघु-तर पुण्यमय कर्म-पुद्गलों का बंध करता है।

स्वतःसिद्ध अवधारणा-4 स : तप का अभ्यास न केवल नये कार्मन कणों या कर्म-पुद्गलों के आस्रव के लिये कार्मिक-सुरक्षा-कवच बनाता है, अपितु यह पूर्वार्जित कर्म-पुद्गलों की निर्जरण प्रक्रिया में भी योगदान करता है।

ये चारों स्वतःसिद्ध अवधारणायें जैनधर्म रूपी वृक्ष की जड़ें हैं, शाखायें नहीं। जैन आगमों के परिप्रेक्ष्य में इन अवधारणाओं के अर्थ और उनकी तर्कसंगतता की विवेचना आगे के अध्यायों में की गई है। स्वतःसिद्ध अवधारणायें 1-3 जैनों के कार्मन कणों (या कर्म-पुद्गलों) के वैज्ञानिक सिद्धान्त को प्रस्तावित करती हैं और स्वतःसिद्ध अवधारणायें 4अ, 4ब और 4स इस सिद्धान्त के अनुप्रयोग निदर्शित करती हैं।

1.4 पारिभाषिक शब्दावली

1. तीर्थकर	:	धर्म-प्रवर्तक अर्हत्
ऋषभ	:	प्रथम तीर्थकर
पार्श्व	:	तेईसवें तीर्थकर
महावीर	:	चौबीसवें तीर्थकर
उमास्वाति (मि)	:	जैनों के एक प्रमुख आचार्य
तत्त्वार्थसूत्र	:	जैनों की एक सर्वमान्य प्रामाणिक पवित्र पुस्तक

2. जैनों के सम्प्रदाय

दिगम्बर	:	अचेल-धर्मी
श्वेताम्बर	:	सचेल धर्मी
स्थानकवासी	:	स्वाध्याय/प्रार्थना भवनों में रहने वाले। यह मूर्तिपूजक नहीं है, इसकी स्थापना लोकाशाह (1415-1489 ई.) ने की है।
तारणपंथ	:	दिगम्बरों का एक सम्प्रदाय जो मूर्तिमूजक नहीं है। इसकी स्थापना तारणस्वामी (1448-1515 ई.) ने की है।
तेरापंथ	:	श्वेताम्बरों का एक सम्प्रदाय, जो मूर्तिपूजक नहीं है इसकी स्थापना आचार्य भीखणजी (1726-1803) ने की थी।
मुखपट्टिका	:	मुंह-पट्टी

अध्याय 2

आत्मा एवं कर्म—पुद्गलों का सिद्धान्त

(स्वतःसिद्ध अवधारणा 1)

स्वतःसिद्ध अवधारणा - 1 : "आत्मा कर्म—पुद्गलों से संदूषित स्थिति में रहता है और यह चाहता है कि वह पूर्ण परिशुद्ध हो।"

2.1 स्वतःसिद्ध अवधारणा

सिद्धांततः इस अवधारणा में संदूषित आत्मा की धारणा से यह ध्वनित होता है कि इस प्राणि-जगत में आत्मा दो विशिष्ट घटकों से बना हुआ है :

- (1) भौतिक और निर्जीव (कर्म) शरीर
- (2) अवशिष्ट अभौतिक और सजीव-चेतन घटक या आत्मा

इसका सजीव घटक 'शुद्ध आत्मा' के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जबकि इसका निर्जीव और भौतिक घटक (अशुद्ध घटक) कार्मिक द्रव्य के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। (उदाहरण के लिये, सोने के अयस्क पर विचार कीजिये। इसमें धातुमल और शुद्ध सोना—दोनों होते हैं :

सोने का अयस्क = धातुमल + शुद्ध सोना

यहाँ धातुमल 'कार्मिक द्रव्य' है और इससे भिन्न अवशिष्ट भाग 24 कैरेट सोना है जो 'शुद्ध आत्मा' के समकक्ष है।

यहाँ भी कार्मिक पुद्गल, वास्तव में, वह भौतिक द्रव्य है जो आत्मा को दूषित या अशुद्ध बनाता है। इसका सामान्य शब्द 'कर्म' (अर्थात् क्रिया) से कोई संबंध नहीं है। सबसे सरल और सामान्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि शुद्ध आत्मा में 'जीवत्व' के सभी महत्त्वपूर्ण और सकारात्मक गुण (ज्ञान, दर्शन आदि) पाये जाते हैं। जब यह कार्मिक पुद्गलों से संदूषित होता है, तब इसमें नकारात्मक प्रभाव - अज्ञान, मिथ्यात्व आदि उत्पन्न होते हैं। तथापि, यह सही है कि कर्म—पुद्गलों से आत्मा का यह संदूषण स्वाभाविक या सहज नहीं है, क्योंकि आत्मा में यह सहज इच्छा रहती है कि वह इनसे पृथक्कृत ही रहे।

व्यवहार में, इस सैद्धांतिक धारणा से यह ध्वनित होता है कि संसारी आत्मा का उद्देश्य 'आत्मा' का शुद्धिकरण है अथवा 'कर्मपुद्गलों' पर विजय पाना है। वस्तुतः, कर्म—पुद्गल सभी प्रकार के दुःख, कष्ट आदि के मूल

कारण हैं। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि हम 'आत्मा' शब्द को दो अर्थों के रूप में ले रहे हैं : (1) शुद्ध आत्मा और (2) संदूषित आत्मा। लेकिन इस शब्द का अर्थ संदर्भानुसार लेना चाहिये, अर्थात्

$$\begin{aligned} \text{संदूषित आत्मा} &= \text{शुद्ध आत्मा} + \text{संदूषक कर्म} \\ \text{और, शुद्ध आत्मा} &= \text{संदूषित आत्मा} - \text{संदूषक कर्म} \end{aligned}$$

इन धारणाओं को तथा शुद्ध आत्मा और कर्म की अन्योन्यक्रिया को समझने के लिये, सर्वप्रथम हमें जैनों के सैद्धांतिक विज्ञान को समझना होगा। जैनों के अनुप्रयुक्त विज्ञान को स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 (अध्याय 5) के अंतर्गत निरूपित किया जायगा।

2.2 जैनों की मूलभूत धारणाएँ

2.2.1 आत्मा

ऐसा विश्वास किया जाता है कि प्रकृति में एक ऐसा अभौतिक पदार्थ है जिसमें निम्न चार प्रमुख गुण पाये जाते हैं¹ :

1. ज्ञान
2. दर्शन
3. आनंद/सुख
4. वीर्य या ऊर्जा

हम इन चारों गुणों को 'आत्मा के घटक' कहेंगे। इनमें से पहले के दो घटक आत्मा के 'ज्ञानात्मक' कार्य का निर्देश करते हैं और 'चेतना' के रूप हैं। सुख या आनंद एक ऐसी अवस्था है जिसमें 'करुणा' एवं 'स्वावलम्बन' के गुण समाहित होते हैं। 'वीर्य' एक अमूर्त बल है जो आत्मा के ज्ञान और दर्शन के गुणों की अभिव्यक्ति के लिये समुचित सामर्थ्य प्रदान करता है। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जैनधर्म में 'आत्मा' के लिये प्रयुक्त अनेक शब्दों में एक शब्द 'जीव' भी है जो संदूषित आत्मा का सजीव घटक है।

2.2.2 कार्मन कण और कर्म पुद्गल

सामान्यतः कर्म-पुद्गल अव-परमाणुक कर्म-कणों के बने होते हैं। यहां हम इन्हें 'कार्मन कण' (Karmon Particles) कहेंगे। ये कार्मन-कण इस जगत के आकाश में यादृच्छिक और मुक्त रूप में उतराते रहते हैं, पर ये एक-दूसरे से कोई क्रिया नहीं करते (संभवतः इनमें गुरुत्वीय बल अत्यंत अल्प होता है)। विश्व के सभी अव-परमाणुक कणों में कार्मन कण अति-विशिष्ट होते हैं क्योंकि वे केवल आत्मा (या जीव) में ही अवशोषित

होते हैं और वे स्वयं बंध को प्राप्त नहीं हो सकते। इसका अर्थ यह है कि कर्म-पुद्गल कार्मन-कणों के अणु या स्कंध के रूप में, केवल आत्मा से संयोजित रूप में ही जुड़ते हैं। इस प्रकार कर्म-पुद्गल नये कार्मन-कणों के अवशोषित करने पर बढ़ जाते हैं और कुछ कार्मन-कणों के आकाश में मुक्त होने से कम हो जाते हैं।

2.2.3. आत्मा और कर्म की अन्योन्यक्रिया

अपनी शुद्धतम अवस्था में, आत्मा में अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य गुण होते हैं। यह आत्मा सजीव वीर्य है, लेकिन सामान्यतः, जैसा कि स्वतःसिद्ध अवधारणा 1 से स्पष्ट है कि सशरीरी आत्मा कर्म-पुद्गलों से संदूषित होती है। आत्मा और कर्म-पुद्गलों के समान अत्यंत विरोधी गुण वाले दो घटकों की अन्योन्यक्रिया से अनेक प्रकार के भयंकर विकार उत्पन्न हो सकते हैं। विशेषतः ये कर्म-पुद्गल

1. आत्मा के ज्ञानात्मक घटक को आवृत्त करते हैं,
2. आत्मा के दर्शनात्मक घटक को आवृत्त करते हैं,
3. आत्मा के सुखात्मक घटक को विकृत करते हैं,
4. आत्मा के वीर्यात्मक घटक को प्रतिबंधित करते हैं,

इस प्रकार कर्म-पुद्गलों के कारण आत्मा अपने पूर्ण गुणों की अभिव्यक्ति का लाभ नहीं ले पाता।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि केवल सुख ही आत्मा का ऐसा घटक है जो अन्य रूपों में परिणत होता है। यह परिवर्तन मदिरा या मूर्च्छा के प्रभाव से व्यक्ति में होने वाले परिवर्तनों के समान है। ये परिवर्तन या विकार आत्मा के वीर्यात्मक घटक को भी विकृत कर देते हैं। तथापि, कर्म-द्रव्य केवल आत्मा में ही उत्तरजीवी होते हैं। लेकिन आत्मा तो स्वावलम्बी है और इसमें एक सहज प्रवृत्ति है कि यह कर्म द्रव्यों से (जिनमें विभिन्न शरीर-धारण भी समाहित हैं), वियोजित हो जाती है। आत्मा की इस सहज वृत्ति को हम इसकी मुक्ति की इच्छा का प्रेरक कहेंगे।

2.3 पारिभाषिक शब्दावली

2.3.1 कर्म-बंध की प्रक्रिया

यहां हम कुछ जैन पारिभाषिक शब्दों का विवरण देना चाहते हैं। आत्मा और कर्म-पुद्गल के मध्य होने वाले बंध को कर्म-बंध कहते हैं। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि कर्म-पुद्गल और आत्मा सहचरित या एक ही क्षेत्र में रहते हैं, लेकिन इनका आत्मा से प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं होता।² तथापि, कार्मिक पुद्गल और आत्मा के विकृत या मलिन वीर्य के संयुग्मित

होने पर, एक कर्म-बल क्षेत्र या कर्म-क्षेत्र (प्रभाव-क्षेत्र) का निर्माण होता है। इस बल-क्षेत्र के कारण कर्मों का आस्रव होता है अर्थात् सभी दिशाओं में विद्यमान कार्मन-कण आत्मा में प्रवाहित होने लगते हैं। साथ ही, कर्म-बल आत्मा के बाधित-वीर्य घटक से संयुग्मित होकर आगंतुक कार्मन-कणों के साथ बंध (fuse) जाते हैं। इस प्रक्रिया को हम कर्म-बंध कहते हैं।

इस नये कर्म बंध के कारण आत्मा के साथ बंधे हुए समस्त कर्मों का पुनर्गठन होता है और यह प्रक्रिया अविरत रूप से चलती रहती है। इस प्रक्रिया को चित्र 2.1 से 2.4 में प्रदर्शित किया गया है। यहां हम कर्म-सहचरित आत्मा को एक वर्ग की आकृति के रूप में प्रदर्शित करेंगे जहां कर्म-पुद्गल इस क्षेत्र में विकर्णी रेखाओं में बताये गये हैं। साथ ही, यहां कर्म-बल क्षेत्र को वर्ग के बाहर समानांतर रेखाओं से प्रदर्शित किया गया है (चित्र 2.1)। वास्तव में, चित्र 2.1 कर्म-बंध की प्रक्रिया को निरूपित करता है। यह निरूपण इस पुस्तक में सर्वत्र प्रस्तुत किया जायगा। चित्र 2.2 में कर्म-क्षेत्र के द्वारा आकर्षित कार्मन-कणों (जो कि काले वृत्त-बिन्दुओं के द्वारा दिखाये गये हैं) को प्रदर्शित किया गया है। यह आकर्षण मुड़ी हुई बल रेखाओं से व्यक्त किया गया है। चित्र 2.3 में कर्म-बंध की प्रक्रिया को आत्मा की टेढ़ी-मेढ़ी बाहरी सीमा के रूप में बताया गया है। चित्र 2.4 में कर्म-पुद्गलों की वृद्धि, फलस्वरूप और प्रबलतर कर्म-बल क्षेत्र को अनेक मोटी और विकर्णी रेखाओं के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

यहां यह महत्त्वपूर्ण है कि हम आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं को और उनके फलस्वरूप उन अवस्थाओं में विद्यमान भौतिक बलों को भी विभेदित करें। इस प्रकार आत्मा की वास्तविक भौतिक अवस्था को कर्म-आस्रव कहते हैं जिससे उस पर कार्मन-कणों का बलपूर्ण आगमन होता है। जहां कार्मन कणों का कर्म-पुद्गल के साथ वास्तविक स्वांगीकरण होता है, उसे कर्म-बंध कहते हैं।

अभी हमने कर्मबंध की प्रक्रिया बताई है। पर इसके समान ही कर्मों के क्षय या निर्जरा की प्रक्रिया भी होती है जहां कार्मन-कणों का निःसरण या विगलन होता है। तथापि, यह ध्यान में रखना चाहिये कि यदि कर्म-पुद्गल नहीं हैं, तो कार्मन-कण आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते।

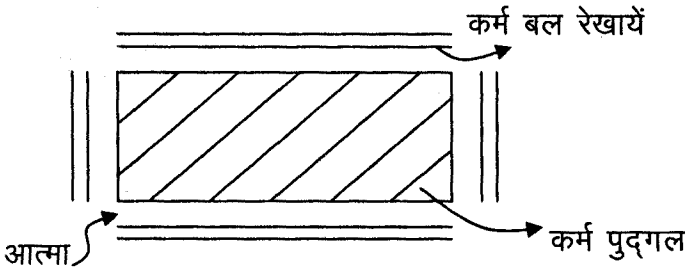
2.3.2. कार्मिक घनत्व

प्रकृति में विद्यमान कार्मन-कण एक-दूसरे से अभिन्न या समरूप ही होते हैं, लेकिन आत्मा के बाधित वीर्य से संयुक्त कार्मिक बल इन कार्मनों में कुछ विशिष्ट क्रियात्मकता उत्पन्न करते हैं जिससे वे विभेदित हो जाते हैं।³

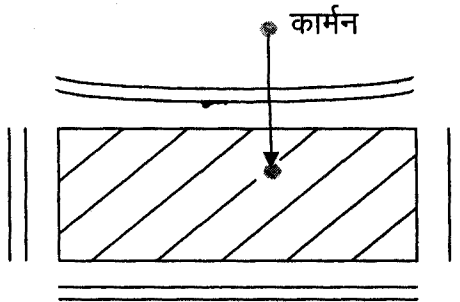
ऐसा माना जाता है कि ये कार्मन-कण भारी या लघु कार्मिक द्रव्यों में संघटित हो जाते हैं अर्थात् वे ऐसे कार्मिक द्रव्यों में सुगठित होते हैं जिनका घनत्व उच्च या अल्प होता है। भारी कार्मिक द्रव्य से यह संकेत मिलता है कि कर्म-बंध प्रबल है और लघु कार्मिक द्रव्य से कर्म-बंध की दुर्बलता प्रकट होती है। दुर्बल कर्म-बंध को आत्मा (जीव) से सरलता से अपघटित किया जा सकता है। इस प्रकार कार्मिक द्रव्यों का संघटन एक गतिशील या परिवर्तनशील प्रक्रिया है और, इसलिये इसके कार्य भी परिवर्ती होते हैं। इस प्रक्रिया को चित्र 2.5 में प्रदर्शित किया गया है जहां विकर्णी रेखाओं के बदले लघु कार्मिक द्रव्य के घटक रिक्त वृत्तों से प्रदर्शित किये गये हैं और भारी कार्मिक द्रव्य के घटक भरे हुए वृत्तों से प्रदर्शित किये गये हैं। ये वैकल्पिक निरूपण कार्मिक द्रव्य के घटकों की विशेषता प्रकट करते हैं।

उपरोक्त प्रकार से विभेदित (लघु या भारी) कार्मिक घनत्व निम्न कारकों पर निर्भर करते हैं :

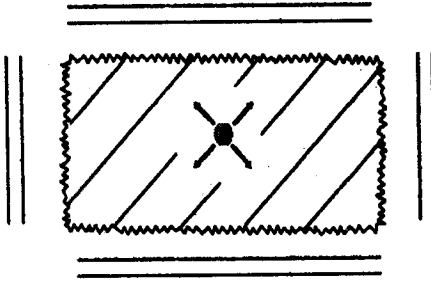
1. कार्मिक बंध में कार्मन-कणों की संख्या



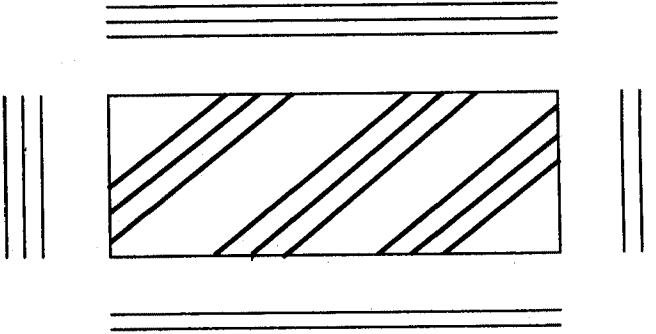
चित्र 2.1 कर्म-पुद्गल (विकर्ण रेखायें), और कर्मबल रेखाओं (समानांतर रेखायें) के साथ आत्मा (वर्ग) : अर्थात् कर्म बंध का निदर्शन



चित्र 2.2 एक आगतुक कार्मन कण (= वृत्त बिंदु) और कार्मिक आस्रव (= वक्र रेखायें)



चित्र 2.3 चित्र 2.2 के आगंतुक कार्मन-कणों के साथ कर्म-बंध (टेढ़ी-मेढ़ी सीमा)



चित्र 2.4 चित्र 2.3 में दिये गये कर्म-बंध के बाद पुनर्गठित कर्म-पुद्गल (अनेक और मोटी विकर्णी रेखायें और अनेक बाहरी रेखायें)

2. विभिन्न प्रकार के कर्म-पुद्गल या कार्मिक घटक
3. कार्मिक निःसरण की स्थितिज ऊर्जा
4. बंधे हुए कार्मन-कणों के क्षय/पतन का समय (स्थिति)

सामान्यतः कार्मिक घटक आत्मा के चार मुख्य घटकों (2.2.1) के विरोधी होते हैं और वे आत्मा के

- (1). सुख घटक को विकृत करते हैं।
- (2-3) ज्ञान और दर्शन घटकों को आवृत्त करते हैं।
- (4). वीर्य-घटक को अवरुद्ध करते हैं।

इस विषय में विस्तृत विवरण अध्याय 3 में दिया गया है।

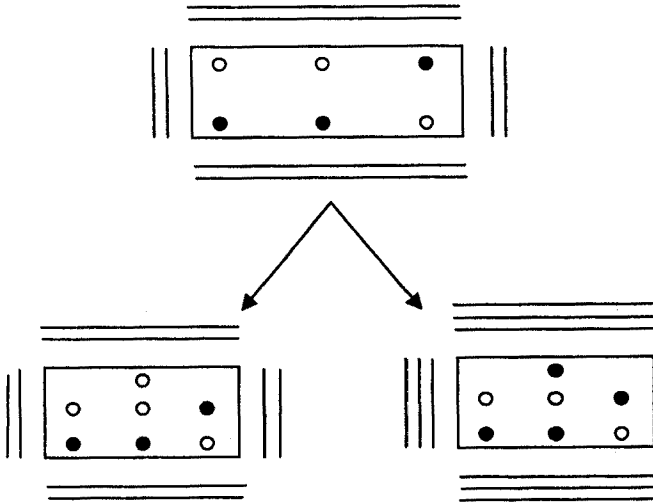
ऊपर दिये गये कारक (1-4) कर्मों की बंध-प्रक्रिया के क्रम को भी निरूपित करते हैं।

2.3.3. दीर्घकालिक साम्य की अवस्था

ऊपर हमने आत्मा की लघु-कालिक अवस्था का वर्णन किया है। अब हम आत्मा की दीर्घ-कालिक साम्य अवस्था पर विचार करेंगे। जब आत्मा से कर्म-पुद्गलों का पूर्णतः निःसरण या क्षय हो जाता है, तो जो अवशेष रहता है, वह शुद्ध आत्मा है :

(संसारि) आत्मा - कर्म/कार्मन कण = शुद्ध आत्मा

इसका अर्थ यह है कि आत्मा के चार घटकों के अनन्त स्तर होते हैं जैसा कि खंड 2.2.2 में बताया गया है।



चित्र 2.5 लघु (रिक्त वृत्त) और भारी (भरे हुए वृत्त) के रूप में नवागंतुक कार्मिक कणों और आत्मा (जीव) के बीच अन्योन्यक्रिया की प्रक्रिया।

इस (शुद्ध आत्मा की) स्थिति को प्राप्त करने के लिए दो चरण होते हैं। प्रथम चरण में कार्मिक बलों का कवच होने से कार्मिक आस्रव अवरुद्ध हो जाता है अर्थात् नये कार्मन कणों का आगमन पूर्णतः समाप्त हो जाता है। द्वितीय चरण में, संचित कार्मिक पुद्गलों का पूर्णतः पतन या निःसरण होता

है अर्थात् सम्पूर्ण कर्म-पुद्गल आत्मा से वियोजित होकर गिर जाते हैं। इसे कर्म-विभंजन या कर्म-क्षय कहते हैं। जब सभी कार्मन-कण निकल जाते हैं; अर्थात् आत्मा में कोई कर्म-क्षेत्र नहीं रह पाता तब वह अपनी सम्पूर्ण क्षमता को प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण कर्मक्षय और सम्पूर्ण क्षमता की अभिव्यक्ति की अवस्था आत्मा की मुक्त अवस्था कहलाती है। फलतः, आत्मा की मुक्त अवस्था को छोड़कर उसमें कर्म-बंध और कर्म-विभंजन सदैव होता रहता है। यह कर्म-बंध और कर्म-विभंजन की प्रक्रिया कैसे संपन्न होती है, यह अध्याय 5-7 में बताया जाएगा।

चित्र 2.6 इस प्रक्रिया की क्रियाविधि को 2.5 के समान ही निरूपित करता है। चित्र 2.6 अ कर्म-संयुक्त आत्मा है और चित्र 2.6 ब कर्म-बल पर आगंतुक कार्मन-कणों के प्रभाव को प्रदर्शित करता है। चित्र 2.6 स कार्मिक आस्रव को अवरुद्ध करने के लिये कर्म-बल कवच को प्रदर्शित करता है और चित्र 2.6 द कार्मिक-बल कवच के कारण अंतिम कार्मन-कणों से युक्त कार्मिक निःसरण का संकेत देता है। चित्र 2.6 इ में मुक्त आत्मा बताया गया है जहां कर्मों के निःसरण के कारण अनन्त वीर्य आदि गुण प्रकट होते हैं जिन्हें प्रसरत किरणों के द्वारा बताया गया है।

कार्मन-कणों की धारणा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इस धारणा की हम विभिन्न अवस्थाओं में होने वाली मनोवैज्ञानिक अनुक्रियाओं की अवधारणा से तुलना कर सकते हैं, लेकिन कार्मिक अनुक्रियायें न तो दूसरे जीवों के मनोविज्ञान की व्याख्या करती हैं और न ही जीव में अंतर्घटित होने वाली क्रियाविधि को स्पष्ट करती हैं।

2.3.4. नव तत्त्व

हमने अभी अजीव या अचेतन की धारणा का विवरण दिया है जिसमें निम्न बिंदु समाहित हुए हैं :

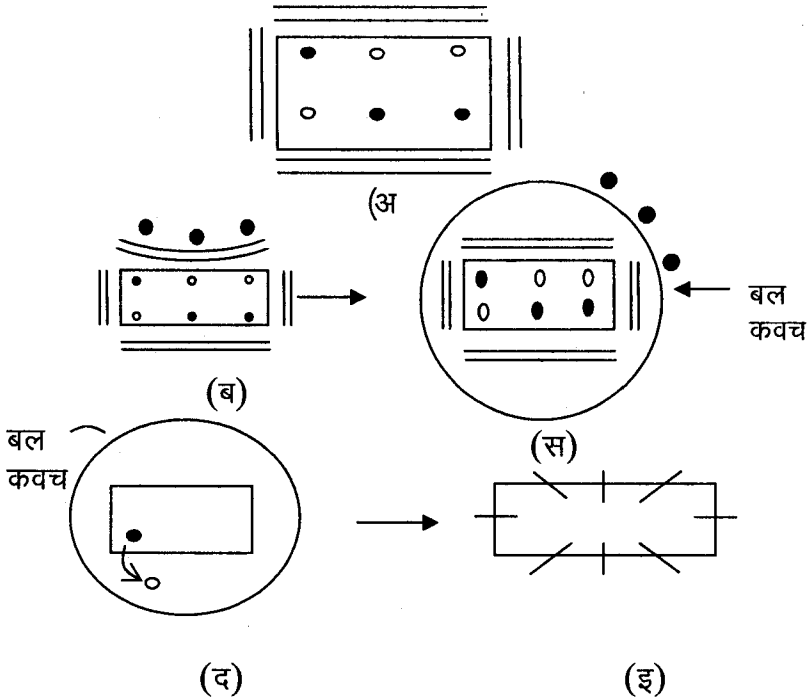
1. पुद्गल (कार्मिक पुद्गल)
2. कार्मिक बंध/समेकन/संगलन
3. कार्मिक बंध/आस्रव
4. कार्मिक बल-कवच (संवर, कर्म-ढाल)
5. कार्मिक क्षय/विभंजन/निर्जरा और
6. मुक्ति

इनके साथ ही, उपरोक्त विवरण में

7. आत्मा (संसारी या मुक्त)
8. भारी कार्मिक पुद्गल (पाप)

9. लघु कार्मिक पुद्गल (पुण्य) भी समाहित हुए हैं।

इस प्रकार, जैन विज्ञान में नौ आधारभूत (आध्यात्मिक) तत्त्व (या तथ्य) माने गये हैं। (इनमें उपरोक्त प्रथम वर्ग (1-6) बहुत व्यापक है। इनमें पाँच अस्तिकाय समाहित होते हैं जिनका वर्णन बाद में (अध्याय 4.4) किया गया है। इन तत्त्वों के यथार्थ क्रम के विषय में खंड 2-5 देखिये)।



चित्र 2.6 कुछ तत्त्वों की परिभाषा : अ. कार्मिक बंध; ब. कार्मिक आस्रव; स. कार्मिक बल; द. कवच के कारण कर्मों की निर्जरा; इ. मुक्त आत्मा

यह माना जाता है कि ये तत्त्व अनादि काल से हैं और ये प्रकृति के नियमों के अनिवार्य अंग हैं। ये विश्व के विकास की व्याख्या भी करते हैं। महापुराण के अनुसार – “यह जानो कि इस संसार को किसी ने नहीं बनाया, जैसे – समय। इसका न आदि है और न अन्त है।”

यह मूलभूत तत्त्वों, जीवन और अन्य घटकों पर आधारित है।”

यहां 'मूलभूत तत्त्वों' का तात्पर्य नौ तत्त्वों से है और 'जीवन' का अर्थ 'आत्मा' है तथा 'अन्य घटकों' से तात्पर्य आत्मा को छोड़ अन्य आठ तत्त्वों से है। इसलिए, जैनों के अनुसार, कोई विशिष्ट पुरुष या शक्ति विश्व का सृष्टिकर्ता नहीं है। यहां जैन विज्ञान में वर्णित नौ तत्त्वों पर विश्वास की बात कही गई है, फलतः जैन धर्म को कभी-कभी नास्तिकवादी धर्म कहने के बदले परा-अनीश्वरवादी धर्म कहा जाता है। जैन धर्म में ईश्वर की सत्ता के विरोध में दिये जाने वाले अनेक तर्कों में एक तर्क यह है:

"यदि संसार को किसी ने बनाया होता, तो इससे यह संकेत मिलता है कि तथाकथित ईश्वर के मन में यह इच्छा रही होगी कि वह जीवन के निम्न-स्तर वाले जीवों का भी निर्माण करे जो अपने आध्यात्मिक विकास के निम्नतम स्तर पर हों अर्थात् वे पूर्ण-आत्मा के स्तर से पर्याप्त दूरी के स्तर पर हों। इसके साथ ही, ईश्वर की परिभाषा के अनुसार, एक पूर्ण एवं उच्चतम स्तर के प्राणी को पूर्ण संसार की ही रचना करनी चाहिये। इस विषम और असंतुलित विश्व की रचना नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार, उच्चतर स्तर का ईश्वर इस संसार का कर्ता-निर्माता नहीं हो सकता।"

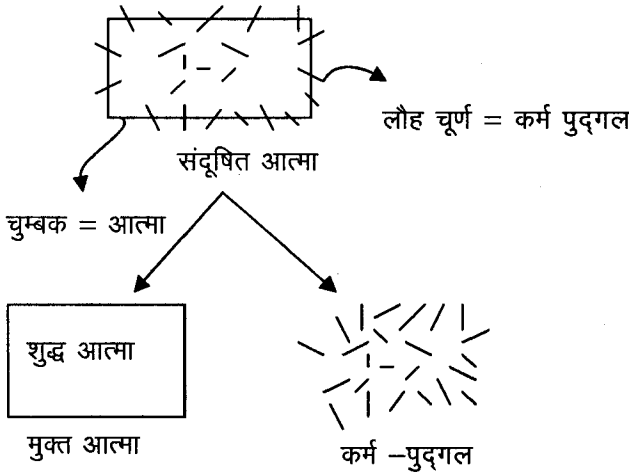
2.4 महत्त्वपूर्ण संदृश्यतायें या अनुरूपतायें

उपरोक्त विवरण में हमने विभिन्न पारिभाषिक शब्दों को केवल भौतिकी के सिद्धांतों का उपयोग कर परिभाषित किया है। हमने उन शास्त्रीय अनुरूपताओं पर ध्यान नहीं दिया है जिनके कारण जैन साहित्य और सिद्धांत किंचित् अस्पष्ट से लगते हैं। फिर भी, कार्मन आत्मा आदि को उनके गुणों के द्वारा ही जाना जा सकता है। चूंकि इनका ज्ञान केवल उनके प्रभावों के द्वारा ही किया जा सकता है, अतः हम यहां ऐसी विविध अनुरूपतायें या उदाहरण देंगे जिनके आधार पर उनके विभिन्न गुणों को समझाया जाता है। तथापि, यह ध्यान में रखना चाहिये कि प्रकाश कण और तरंग-दोनों के गुण प्रदर्शित कर सकता है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम किस रूप में उसका वर्णन करना चाहते हैं। वस्तुतः प्रकाश तो प्रकाश ही है। इसी प्रकार, पदार्थों के गुण भी पदार्थ की विलक्षणता को वर्णित नहीं कर सकते। यही तर्क कार्मन और आत्मा के वर्णन पर भी लागू होता है।

2.4.1. चुम्बकत्व

हम संदूषित आत्मा को एक चुम्बक के समान मान सकते हैं। यह लौह-कणों को आकर्षित करता है। इन्हें हम कार्मन-कण मान सकते हैं। चुम्बकीय बल-रेखायें कार्मिक बल-रेखाओं के समकक्ष हैं और लौह-कणों

का चुम्बक से संयोग कर्म-बंध/समेकन के रूप में माना जा सकता है अर्थात् कर्म आत्मा के साथ दृढ़ता से बंध जाते हैं। बल-क्षेत्र कवच (Force-field shield) लौह-कणों को चुम्बक द्वारा आकर्षित होने से रोकता है और यह रोधक (Insulator) का काम करता है। वास्तव में, इस बल-क्षेत्र में विद्यमान पहले से संयुक्त कणों का निर्झरण उसके वि-चुम्बकीकरण को व्यक्त करता है। इससे पता चलता है कि अब चुम्बक की ओर आकर्षण नहीं है। इस प्रकार, जब सभी कण विलगित हो जाते हैं, तब आत्मा कर्म-पुद्गलों के चुम्बकीय प्रभाव से मुक्त हो जाता है। इस निर्झरण के बाद जो अवशेष रहता है, वह शुद्ध और मुक्त आत्मा है। यह अनुरूपता चित्र 2.7 में प्रदर्शित की गई है। जैसा पहले बताया गया है - यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह कवच एक अनुरूपता है क्योंकि यहां कर्म-पुद्गल अपने ही गुणवाले कार्मन-कणों को आकर्षित करता है जबकि लौह-चूर्ण के कण एक-दूसरे को आकर्षित नहीं करते।



चित्र 2.7 आत्मा एक चुम्बक है और कर्म-पुद्गल लौह चूर्ण है।

2.4.2. अन्य विविध अनुरूपतायें

चुम्बक के अतिरिक्त, हम यहां पेट्रोल का उदाहरण भी ले सकते हैं। यह कच्चे तेल का परिष्कृत रूप है। सामान्यतः, पेट्रोल की ज्वलन ऊर्जा, उसकी प्राकृतिक अशुद्धियों के कारण अस्पष्ट रहती है और उसके परिशोधन से ही उसका समग्र ज्वलन-सामर्थ्य प्रकट होता है। फलतः यह स्पष्ट है कि इसका परिशोधित रूप शुद्ध आत्मा और उसमें विद्यमान अशुद्धियां कर्म पुद्गल के समान हैं :

कच्चा तेल = पेट्रोल + अशुद्धियां
 संदूषित आत्मा (आत्मा + कर्म) - कर्म = शुद्ध आत्मा

एक दूसरी उपमा भी यहां दी जा सकती है। अशुद्ध या संदूषित आत्मा एक तेल-लगा वस्त्र है। आर्द्रता के कारण वस्त्र धूलिकणों को आकर्षित कर सकता है। ये धूलिकण कर्म-पुद्गल के समान हैं तथा वस्त्र एवं तेल का बंध कर्म-बंध के समान है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि आत्मा की प्रकृति विशिष्ट शरीर-धारी के रूप में भी अपरिवर्तित रहती है। इसे ठीक उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे किसी भी वस्त्र को, उसके द्रव्यमान में परिवर्तन किये बिना विभिन्न आकार-प्रकारों में परिणत किया जा सकता है।

अंत में, एक रोचक उपमा और दी जा सकती है। हम जानते हैं कि वायरस किस प्रकार हमारे शरीर-तंत्र में बीमारी के रूप में परिवर्तन लाते हैं। इसी प्रकार, कर्म-पुद्गल रूपी वायरस हमारी आत्मा को प्रभावित करते हैं।

2.5. पारिभाषिक शब्दावली

1. नव तत्त्व

आत्मा = जीव (संसारी या मुक्त)
 कार्मिक पुद्गल = अचेतन, अजीव घटक
 कर्म-बल/कर्म-आगमन = आस्रव
 कर्म-बंध/समेकन = बंध
 कर्म-बंध-कवच = संवर
 कर्म-क्षय = निर्जरा
 मुक्ति = मोक्ष
 भारी कर्म-पुद्गल = पाप
 लघु कर्म-पुद्गल = पुण्य

2. आत्मा के घटक (गुण)

सुख	:	विशिष्ट अनुभूति
ज्ञान	:	जानना
दर्शन	:	देखना
वीर्य	:	ऊर्जा

स्वतंत्रता की इच्छा (प्रेरण)	:	भव्यत्व
मुक्त आत्मा	:	सिद्ध
पूर्ण जीव	:	अरिहंत / अर्हत्

3. कार्मिक गति—विज्ञान और घनत्व

कार्मिक—बंध में कार्मनों की संख्या = प्रदेश
कार्मन—क्षय के समय स्थितिज ऊर्जा = अनुभाव
बंधे हुए कार्मनों के क्षय का समय = स्थिति
कर्म—पुद्गलों के विविध रूप (कर्म घटक) = प्रकृति
निस्सरण = उदय
दमन = उपशम

टिप्पणियां

1. पी. एस. जैनी, पृ. 114

“जैन आत्मा के असंख्य गुणों की बात करते हैं। तथापि, यह तर्कसंगत रूप से कहा जा सकता है कि दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य के गुण, जिनका संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है, आत्मा को परिभाषित करने के लिये पर्याप्त हैं। इन्हीं से यह प्रकट होता है कि आत्मा एक विशिष्ट तत्त्व है जो सभी अन्य तत्त्वों से भिन्न है।”

2. पी. एस. जैनी, पृ. 113

“यहां यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि जैन आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को केवल सहचरण मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि ये दोनों एक ही क्षेत्र में रहते हैं। इनका शुद्ध आत्मा से कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं होता।”

3. पी. एस. जैनी : पृ. 112.

“कर्म—कण लोकाकाश के प्रत्येक भाग में मुक्त रूप से विचरण करते रहते हैं। इस स्थिति में उनमें कोई भेद नहीं होता — वे एकसमान होते हैं। इन सरल कणों से विविध प्रकार के कर्म—पुद्गल (प्रकृति) बनते हैं जिन्हें उनके कार्य के अनुसार विभाजित किया जा सकता है। यह तभी होता है जब वे किसी संसारी आत्मा के साथ अन्योन्य—क्रिया करें।”

अध्याय 3

जीवन का अनुक्रम

(स्वतःसिद्ध अवधारणा 2)

स्वतःसिद्ध अवधारणा 2.

“संसार के प्राणी एक (दूसरे से भिन्न होते हैं) क्योंकि उनके साथ कर्म-पुद्गलों की प्रकृति एवं घनत्व परिवर्ती होते हैं।”

3.1. स्वतःसिद्ध अवधारणा

कर्म-पुद्गल विभिन्न प्राणियों को कैसे विभाजित (वर्गभेद) करते हैं ? यदि हम स्वतःसिद्ध अवधारणा 2 को स्वीकार करें, तो इसके अनुसार विभिन्न जीवों में और उनकी कोटियों में अन्तर के मुख्य कारणों में से एक कारण यह है कि उनमें कार्मिक घनत्व भिन्न-भिन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि आत्मा के मूल-भूत घटक (सुख आदि) जितने ही शुद्ध होंगे, जीवन का रूप भी उतना ही उच्चतर होगा। हम कर्मों की प्रकृति के विषय में अगले अध्याय 4 में वर्णन करेंगे। वहां हम उन घटकों का निरूपण करेंगे जिनसे कर्म-पुद्गलों की विभिन्नता प्रकट होती है।

3.2. जीवन के यूनिट (एकक, इकाई) और जीवन-धुरी

आत्मा (या जीव) की शुद्धता की कोटि को सापेक्षतः, परिमाणात्मक रूप दिया जा सकता है। सुविधा के लिये हम आत्मा की शुद्धि की कोटि को निम्न प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं :

“आत्मा की शुद्धता की कोटि वह है जो औसत मनुष्य को जीवन के 100 जीवन-यूनिट की ओर अग्रसर करें।”

यहां 100 के अंक को अच्छी तरह समझने के लिये उसे बुद्धि-लब्धि (I.Q.) के समान माना जा सकता है। इस प्रकार एक सीमांत पर शुद्ध आत्मा की कोटि अनन्त जीवन-यूनिट होगी और दूसरी सीमा पर अचेतन पदार्थों की कोटि शून्य जीवन-यूनिट होगी। इस आधार पर हम आत्मा की शुद्धता को या जीवन-यूनिटों को एक सरल रेखा द्वारा निरूपित कर सकते

हैं जिसमें जीवन-यूनिट के मान शून्य से अनंत तक हों। हम इस रेखा को जीवन की धुरी या अक्ष कहेंगे। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि जैसे-जैसे आत्मा की शुद्धि की कोटि शून्य से अनन्त की ओर बढ़ती है, वैसे-वैसे कार्मिक घनत्व अनन्त से शून्य की ओर परिवर्ती होता है, क्योंकि कार्मिक घनत्व आत्म-शुद्धि की कोटि के व्युत्क्रम अनुपात में होता है, अर्थात्

$$\text{आत्म शुद्धि की कोटि, } p \propto 1/\text{कार्मिक घनत्व, } 1/kd$$

आत्मा की शुद्धि के दो मुख्य घटक माने जा सकते हैं :

1. **इंद्रियों की संख्या** – जो वीर्य/सुख घटक से सम्बन्धित है, और
2. **बुद्धि या चेतना का स्तर** – जो ज्ञान और दर्शन के घटकों से सम्बन्धित है।

इन घटकों के विषय में अध्याय 2 में बताया जा चुका है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर हम जीवन की धुरी को आगे के खंड 3.3 में और भी सूक्ष्मता से विभाजित करेंगे। जैन विज्ञान में ये विभाग गुणात्मक या भावात्मक रूप में सदैव माने जाते रहे हैं, लेकिन हम अब इन्हें परिमाणात्मक रूप भी दे सकते हैं।

3.3. इंद्रियों की संख्या या चेतना (बुद्धि) के आधार पर जीवन-धुरी के विभाग

सूक्ष्मतम जीवाणु जीवन के निम्नतम स्तर पर आते हैं जिनमें केवल एक ही इंद्रिय (स्पर्शन इंद्रिय) होती है। ये अति-सूक्ष्म होते हैं और केवल किसी वृहत्तर सजीव या निर्जीव तंत्र के एक घटक के रूप में विद्यमान रहते हैं। इसलिये इनमें जीवन-यूनिटों की संख्या अत्यल्प होगी। इस संख्या को हम 10^{-4} यूनिट मान लें।

जीवन का दूसरा स्तर एकेंद्रिय सूक्ष्म जीवाणुओं का समूह है जो पदार्थ के संभावित सूक्ष्मतम यूनिट को ग्रहण कर उसे अपना निवास बना लेता है। ये जीव पृथ्वी-कायिक, जल-कायिक, वायु-कायिक और अग्नि-कायिक कहलाते हैं।¹ हम चित्र 3.1 में इन जीवों को 5×10^{-4} जीवन यूनिटों के रूप में व्यक्त करेंगे।

जीवन का तीसरा स्तर वृक्ष-वनस्पतियों का है, जो पूर्ववर्ती जीवों से उच्चतर कोटि के माने जाते हैं। इनका शरीर स्थूल होता है। इन्हें हम 10^{-3} जीवन-यूनिटों से व्यक्त करेंगे। यह बड़ी रोचक एवं ध्यान देने योग्य बात है कि हम पौधों में जीवन के विभिन्न रूपों को विभेदित कर सकते हैं। जीवन के ये सभी रूप चित्र 3.1 में बताये गये हैं। उदाहरणार्थ, ऐसा माना जाता है कि सेव फल की तुलना में प्याज में जीवन का अधिक सांद्रित रूप होता है। एक सेव फल के बीज से उगा वृक्ष हजारों सेव फल पैदा करता है, फलतः इसका जीवन अनेक संख्याओं में उप-विभाजित हो जाता है। इसके विपर्यास में, प्याज की एक जड़ केवल एक प्याज-कंद ही उत्पन्न करती है। फलतः हम प्याज में जीवन-यूनिटों को 10^{-3} न मानकर 10^{-2} जीवन-यूनिट मानेंगे। यह तथ्य वृक्षों पर भी लागू होता है। इसके अतिरिक्त, असंख्य जीवाणुओं द्वारा निवसित पौधों में और मृतक कलेवर में भी जीवन-यूनिटों की कोटि उच्चतर होगी।

जब इन जीवों की कोटि से कुछ कर्म पुद्गल पृथक् हो जाते हैं, तब जीवन का दूसरा उच्चतर रूप प्रकट होता है जिसमें जीवों की दो इंद्रियां होती हैं – शरीर और मुख या जिह्वा। ये दो इंद्रियां हैं – स्पर्शन और रसना इंद्रिय। ये इंद्रियां सीप या शंख और शंबूक (mussel) में पाई जाती हैं। हम उन्हें जीवन के दो यूनिटों द्वारा निरूपित करेंगे।

उच्चतर जीवन के अगले चरण में तीन इंद्रियां होती हैं, जिससे इनमें नाक भी होती है अर्थात् इनमें एक अतिरिक्त घ्राण इंद्रिय (सूंघने वाली इंद्रिय) होती है जैसी कि चीटी या बिना आंख के कीड़ों में पाई जाती है। हम इन जीवों में तीन जीवन-यूनिट मानते हैं।

जीवों में कर्म-पुद्गलों के और भी कम हो जाने से चार इंद्रिय वाले जीव उत्पन्न होते हैं जिनमें उपरोक्त तीन इंद्रियों के अतिरिक्त आंखें या चक्षु इंद्रिय भी विकसित होती है। मक्खी और मधुमक्खी आदि इस कोटि के उदाहरण हैं। इनमें जीवन के चार यूनिट निर्धारित किये गये हैं। अन्त में, हमें कर्ण-इंद्रिय या कानवाले जीव मिलते हैं, जैसे घोड़ा, ऊंट आदि। इनमें पांच इंद्रियां होती हैं :

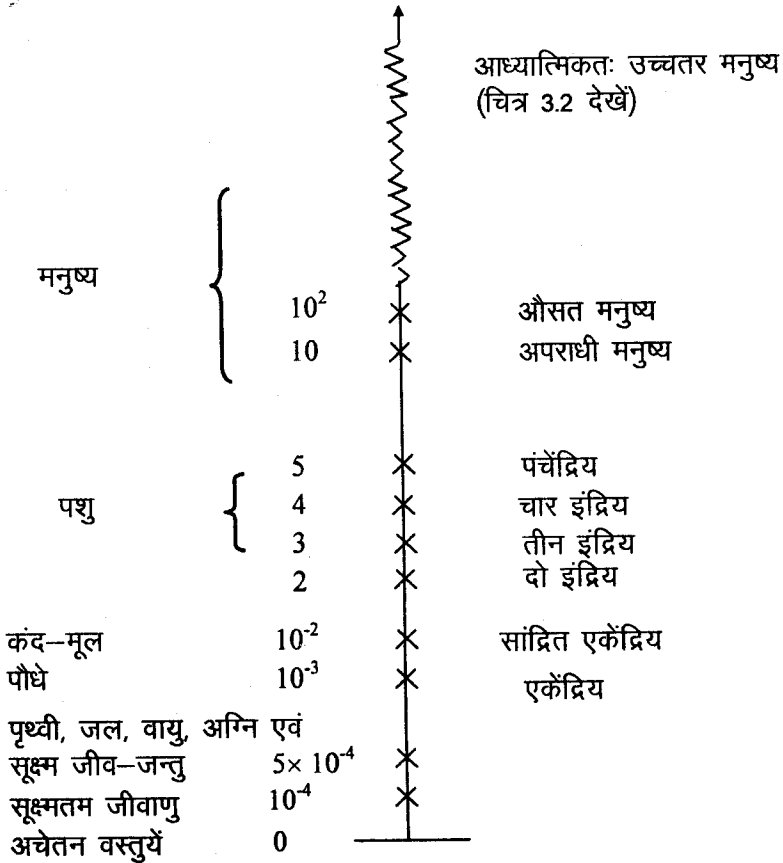
1. स्पर्शन 2. रसना 3. घ्राण 4. चक्षु और 5. कर्ण।

अर्थात् इनमें शरीर, मुख, नासिका, आंखें और कान होते हैं। इन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। इन पांच इंद्रिय वाले जीवों में पहला स्तर पशु (जीवों) का है जिन्हें कालबोध नहीं होता अर्थात् वे यह नहीं जानते कि भूत, भविष्यत् और वर्तमान क्या है ? इन्हें जीवन-धुरी पर पांच जीवन-यूनिट दिये गये हैं। पशु-जीवन के बाद, जीवन का दूसरा उच्चतर स्तर मनुष्य का होता है जिसे कालबोध होता है और जिसमें उपरोक्त पांच इंद्रियों के अतिरिक्त सामंजस्य की उच्चतर कोटि भी होती है। मनुष्य जीवों की यह कोटि बहुत विस्तृत है। उदाहरणार्थ, एक अपराधी मनुष्य, एक मानवतावादी मनुष्य की तुलना में जीवन-धुरी पर निम्नतर अंक प्राप्त करेगा। औसत मनुष्य के लिये हमने 100 जीवन यूनिट का अंक स्वीकृत किया है। इस आधार पर अपराधी मनुष्य को केवल 10 अंक ही प्राप्त होंगे। इस प्रकार, चित्र 3.1 में दी गई जीवन-धुरी पर जीवन-यूनिटों की संख्या का विवरण पूर्ण हो जाता है।

इस चित्र में दिये गये कुछ आरोही या उच्चतर जीवन-यूनिट वाले प्राणियों को आध्यात्मिक उत्थान की कोटि से सम्बन्धित किया जा सकता है। इन्हें चित्र 3.2 में प्रदर्शित किया गया है। इस उत्थान के प्रथम चरण में साधु गण आते हैं जो एक-निष्ठ मन से आध्यात्मिक पथ पर चलने वाले माने जाते हैं। दूसरे चरण में, उन आध्यात्मिक गुरुओं (उपाध्याय) का उल्लेख किया गया है जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया है और जो श्रावकों तथा नवदीक्षित या अन्य साधुओं को अध्यात्म का शिक्षण देते हैं। तीसरे चरण में, आध्यात्मिक आचार्य आते हैं जिनके आचरण और उपदेश एक-समान होते हैं। वे सच्चे गुरु होते हैं और चतुर्विध संघ का नेतृत्व करते हैं। चौथे चरण में, परिशुद्ध जीव या अर्हत् आते हैं जिन्होंने राग-द्वेष रूपी अंतरंग शत्रुओं को जीत लिया है। जीवों की इन कोटियों के सांकेतिक जीवन-यूनिट क्रमशः 10^3 , 10^5 , 10^{10} और 10^{100} माने गये हैं। आध्यात्मिक उत्थान के अंतिम चरण में परम शुद्ध आत्मायें (मुक्त आत्मायें) या सिद्ध जीव आते हैं जो वीर्य/शक्ति के रूप में अनन्त-चतुष्टय के धारक होते हैं। इन सिद्ध आत्माओं के जीवन-यूनिट के अंक अनन्त होते हैं क्योंकि इनमें कोई अशुद्धि नहीं होती (यहां तक कि उन्हें शरीर भी नहीं होता)। (प्रायः जैन इन विवरणों को शाब्दिक रूप से स्वीकार न करें, लेकिन पूर्ववर्ती जैन विश्वास करते थे कि अन्य धर्मों के गुरु भी उच्चतर चरणों को प्राप्त कर सकते हैं।)

3.4 चार गतियां या अस्तित्व की अवस्थायें

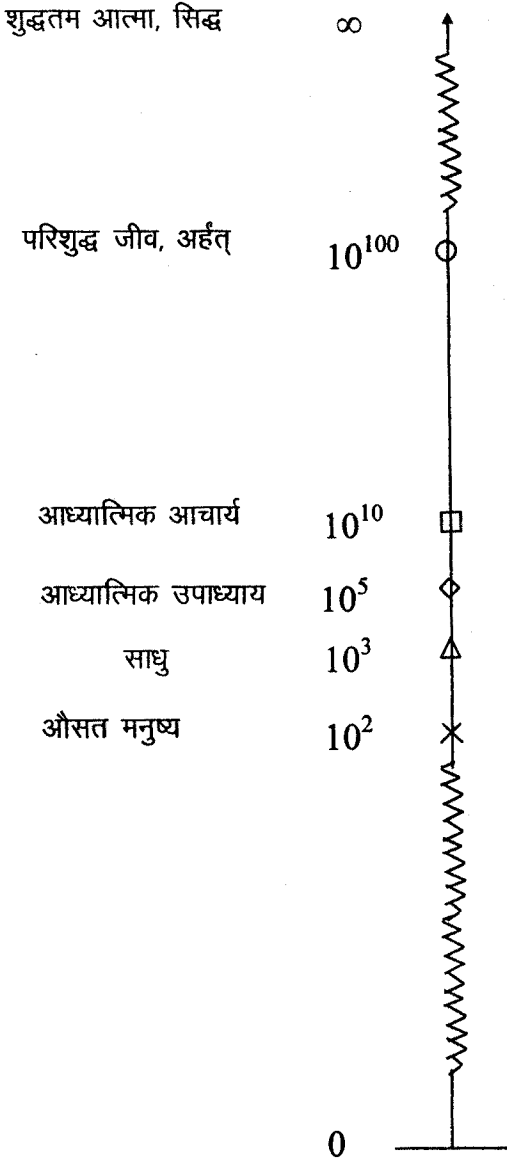
प्रत्येक प्राणी में उसकी मानसिक अवस्था के अनुरूप विभिन्न कोटि की संवेदनशीलता पाई जाती है। हम यहां उनकी मानसिक अवस्था के अनुरूप चार प्रमुख दिशायेँ बताना चाहते हैं।



चित्र 3.1 विभिन्न जीवों के लिये आत्म-शुद्धि की जीवन-धुरी। (यह चित्र रैखिक माप पर नहीं बना है)।

इनमें से प्रथम नारक अवस्था में सर्वाधिक यंत्रणा होती है। आनंद की उच्चतम अवस्था को देव या स्वर्ग अवस्था कहते हैं। यह सुखवादी आनंद होता है, पर इसे परम आनंद की अवस्था नहीं कह सकते। जिस अवस्था में प्राणी यह नहीं जानता कि कल क्या था, कल क्या होगा, वह

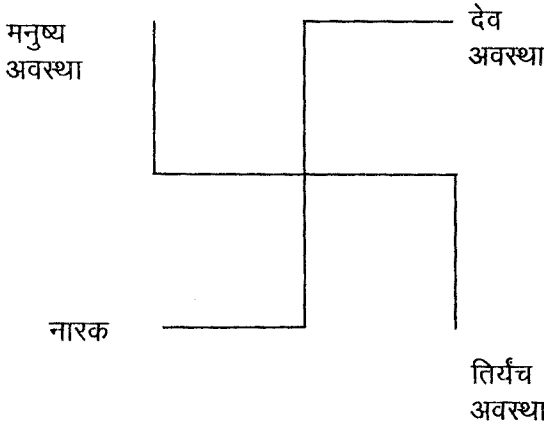
पशु-अवस्था है। जिस अवस्था में सुःख और दुःख का संतुलन बना रहता है, वह सामान्य मनुष्य की अवस्था है।



चित्र 3.2 जीवन-धुरी पर आध्यात्मिकतः उच्चतर पंचेंद्रिय कोटि के पांच प्रकार के जीव (यह माप रेखिक नहीं है।)

प्रत्येक प्राणी में यह क्षमता होती है कि वह इन चार मानसिक अवस्थाओं को प्राप्त कर सके। ये अवस्थायें निम्न हैं :

1. नारक अवस्था
2. स्वर्ग या देव अवस्था
3. मनुष्य अवस्था
4. पशु अवस्था



चित्र 3.3 प्राणियों की मानसिक अवस्था के अनुरूप चार दिशायेँ या गतियाँ

इन चारों अवस्थाओं को प्रतीकात्मक रूप से चित्र. 3.3 में स्वस्तिक के रूप में निरूपित किया गया है जिसका केन्द्र-बिन्दु मन है। (यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि नाजी (जर्मन) लोगों ने इस प्रतीक का अशुद्ध रूप में प्रयोग किया था। उन्होंने इसका परावर्तित या प्रतिबिंबित रूप काम में लिया।)

ये सभी अवस्थायें कर्म-पुद्गलों के घनत्व से प्रभावित होती हैं। जब हम किसी प्राणी को जीवन-धुरी पर स्थान देते हैं, तब इसका भी ध्यान रखना चाहिये।

इन अवस्थाओं की शाब्दिक व्याख्या जीव के अस्तित्व की चार अवस्थाओं या गतियों के अनुरूप होती है जिसका क्रम निम्न है :

1. नारकी जीव
2. देव
3. मनुष्य
4. पौधे और पशुपक्षी

इनका केन्द्र बिन्दु विभिन्न कोटि के जीवन के माध्यम से घूर्णन-अक्ष (axis of rotation) से पास होता है। हमारी यह व्याख्या आचार्य कुंदकुंद के अनुसार है जहां उन्होंने बताया है कि आत्मा अपनी ही मानसिक क्रियाओं के

माध्यम से स्वयं ही जीव की उपरोक्त चार अवस्थाओं का निर्माण करता है।
(कृपया परिशिष्ट 3 व उद्धरण 3.1 देखिये, समयसार गाथा, 268)

3.5. पारिभाषिक शब्दावली

1. आत्मा/सजीव प्राणी = जीव
अनात्मा/अचेतन वस्तु = अजीव
सूक्ष्मतम जीवाणु = निगोद
2. **पांच आध्यात्मिक उच्च कोटि के जीव (=पाँच परमेष्ठी)**
साधु = 28 मूलगुणों के धारक
आध्यात्मिक गुरु = उपाध्याय, अंग-पूर्व के ज्ञाता एवं शिक्षक
आध्यात्मिक नेता = आचार्य, 36 गुणों के धारक, संघ का नेतृत्व
परिशुद्ध जीव = अर्हत्, केवली, पूजनीय
शुद्धतम आत्मा/मुक्त आत्मा = सिद्ध
3. **चार गतियाँ**
दिव्य या स्वर्ग-गति = देव गति
नारक जीव = नरक गति
पशु एवं वनस्पति जीव = तिर्यच गति
मनुष्य = मनुष्य गति

टिप्पणी

1. पी. एस. जैनी; पृष्ठ 109

“जीवन के सबसे निचले स्तर पर, जीवन का निम्नतर रूप होता है जिसे ‘निगोद’ कहा जाता है। ये जीव अव-सूक्ष्म होते हैं और इनमें एक इंद्रिय-स्पर्शन इंद्रिय होती है। वे इतने सूक्ष्म और एक-समान होते हैं कि उनका व्यक्तिगत शरीर भी नहीं होता। इन निगोद जीवों के ऊपर एकेन्द्रिय जीवों का दूसरा वर्ग होता है जिसके सदस्य कर्म-पुद्गलों के सूक्ष्मतम अंशों को ग्रहण करते हैं जिनसे उनका व्यक्तिगत शरीर बनता है। फलतः उन्हें क्रमशः पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक कहते हैं।”

अध्याय 4

जन्म-मरण के चक्र

(स्वतःसिद्ध अवधारणा 3)

कर्मों का बंधन आत्मा को जीवन के अस्तित्व की विभिन्न अवस्थाओं या चार गतियों (या जन्म-मरण के चक्रों) में ले जाता है।

4.1 स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 :

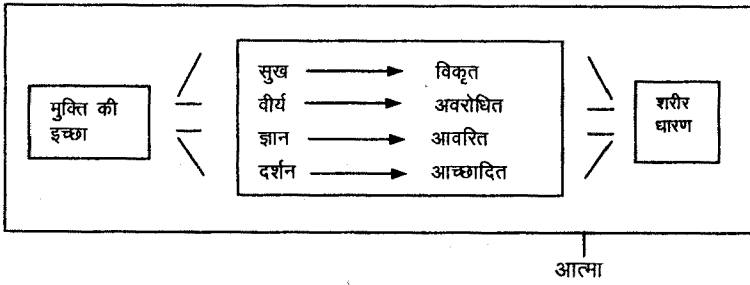
पूर्वोक्त स्वतःसिद्ध अवधारणा 2 (अध्याय 3) में हमने विभिन्न जीवों के केवल एक भव या जीवन-काल की स्थितिक दशा पर ध्यान दिया था। उसमें जीव के विविध जन्म-मरण चक्रों की गतिक दशा पर विचार नहीं किया था। यहां यह प्रश्न होता है कि क्या जन्म-मरण का चक्र वास्तव में होता है ? स्वतःसिद्ध अवधारणा 3 यह मानती है कि इस तरह का चक्र होता है। मृत्यु होने पर यह जीव भौतिक शरीर से छुटकारा पा जाता है और वह अपने ही प्रणोदन (propulsion) या प्रेरण से आगे जाने को तैयार हो जाता है। स्वतःसिद्ध अवधारणा 2 से यह स्पष्ट है कि जीव के साथ अनुबद्ध कर्म पुद्गलों की मात्रा या परिमाण उसे जीवन-धुरी पर नया स्थान पाने के लिये उत्तरदायी होगा। इस स्थिति में निम्न प्रश्न उत्पन्न होते हैं :

- (1) एक जीवन से दूसरे जीवन तक किस तत्त्व का परिवहन होता है ?
- (2) विज्ञान का कौन-सा रूप इस परिवहन को स्वीकार करता है ?

4.2 कार्मिक घटक

उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर देने के लिये हम यह मानते हैं कि संदूषित आत्मा की क्रियाओं और प्रवृत्तियों से उसके साथ संलग्न कर्म-पुद्गल आठ प्रकार की विशेष प्रकृतियों में परिणत हो जाते हैं। हम इन प्रकृतियों को कर्म-घटक कहते हैं।

हम इन कार्मिक घटकों को निषेधात्मक या नकारात्मक बल के रूप में मानेंगे जो आत्मा के विपर्यस्त वीर्य या ऊर्जा-घटक और कर्म-पुद्गलों के कारण उत्पन्न होता है। यहां हम आत्मा के चार घटकों का पुनः स्मरण करें: (अध्याय 2.2) : 1. सुख 2. वीर्य 3. ज्ञान और 4. दर्शन। इसके साथ ही, हम इसके सहज स्वतंत्रताकांक्षी प्रेरक (भव्यत्व) का भी स्मरण करें। चित्र 4.1 में आत्मा की किसी निश्चित समय पर एक नियत स्थिति प्रदर्शित की गई है।



चित्र 4.1 कार्मिक घटकों के साथ किसी समय नियत बिंदु पर आत्मा की अवस्था और कर्म-पुद्गलों पर उसका प्रभाव

आत्मा के सकारात्मक बलों में अनन्त सुख, वीर्य, ज्ञान और दर्शन आते हैं। इन घटकों के मूल में एक प्रबल (कर्म-मुक्ति के लिये) स्वतंत्रताकाक्षी प्रेरक है। आत्मा के नकारात्मक बलों में, अनन्त सुख के अनुरूप एक घटक है जो इसको विकृत या संदूषित करता है। इस घटक को हम सुख-विकारी कर्म-घटक (मोहनीय कर्म) कहेंगे। इसे हम 'अ-घटक' कहेंगे। इस अ-घटक के दो उपघटक होते हैं:

1. दर्शन-विकारी उपघटक - अ₁
2. चारित्र-विकारी उपघटक - अ₂

इन्हें हम क्रमशः अ₁ और अ₂ के संकेतों से सूचित करेंगे। यहां इस बात का भी स्मरण रखना चाहिये कि विकारी घटक आत्मा के समग्र स्वरूप को परिवर्तित करते हैं अर्थात् इस प्रक्रिया में इसके घटकों में मूलभूत परिवर्तन हो जाता है जैसे उन्माद की दशा में सारा व्यक्तित्व ही परिवर्तित हो जाता है।

इसी प्रकार, एक दूसरा निषेधात्मक घटक भी है जिसे हम वीर्य या ऊर्जा-बाधक कर्म-घटक (अंतराय कर्म) कहेंगे और इसे 'ब-घटक' से संसूचित करेंगे। यह घटक आत्मा को न केवल सीमित ऊर्जा से काम करने देता है, अपितु यह वर्तमान कर्म-पुद्गलों के समेकन या बंधन में तथा कार्मिक क्षय में सह-अपराधी होता है। इसी प्रकार, तीसरे और चौथे निषेधात्मक कार्मिक घटक भी हैं :

1. ज्ञानावरण घटक (स)
2. दर्शनावरण घटक (द)

इन्हें हम क्रमशः 'स' और 'द' घटक के रूप में संसूचित करेंगे। यहां यह ध्यान में रखें कि ये दोनो घटक (स, द) आत्मा के दो घटकों (ज्ञान, दर्शन) को केवल आच्छादित करते हैं, वे आत्मा को विकृत नहीं करते।

ये चारों घटक (अ, ब, स, द) प्रतिसमय कार्यकारी रहते हैं और इन्हें किसी एक जीवन-चक्र में घातिया या विनाशक घटक के रूप में माना जाता है। हम इन घटकों को 'प्राथमिक घटक' कहेंगे।

इनके अतिरिक्त, अन्य चार घटकों को 'द्वितीयक घटक' कहते हैं जो दूसरे जीवन की ओर ले जाते हैं और परोक्षतः स्वतंत्रताकांक्षी प्रेरक को भी प्रभावित करते हैं। इन घटकों के नाम निम्न हैं :

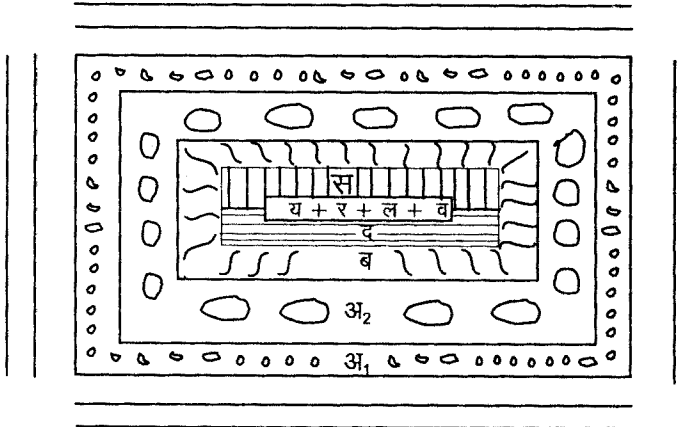
घटक	नाम
1. सुख-दुःख अनुभूति-उत्पादक घटक	(य) वेदनीय कर्म
2. शरीर-निर्माणक घटक	(र) नामकर्म
3. आयु-निर्धारक घटक	(ल) आयुकर्म
4. पर्यावरण-निर्धारक घटक	(व) गोत्रकर्म

हम इन घटकों को क्रमशः 'य, र, ल, और व' घटक के रूप में संसूचित करेंगे। ये घटक, दूसरे जीवन चक्र के प्रारंभ होने के ठीक पहले के समय को छोड़कर अन्य समय पर कर्म-बंध और कर्म-क्षय की प्रक्रिया में मंथर गति से काम करते हैं। सारणी 4.1 में इन कार्मिक घटकों का संक्षेपण किया गया है।

यद्यपि उपरोक्त सभी कार्मिक घटक स्वतंत्र रूप से काम करते हैं, फिर भी इनकी क्रिया में विकारी घटक - अ (मोहनीय कर्म) का केन्द्रीय महत्त्व है, क्योंकि यह न केवल आत्मा को विकृत करता है, अपितु यह अन्य घटकों के परिचालन में भी सहयोगी होता है। वस्तुतः, कार्मिक घटक ब (अंतराय कर्म) उस विकृति कारक प्रक्रिया के अस्तित्व से प्रभावित होता है। चित्र 4.1 इस अन्योन्यक्रिया के स्थितिक पक्ष को निर्धारित करता है। चित्र 4.2 में इन घटकों का आत्मा पर होने वाले अनुक्रमिक प्रभाव को प्रदर्शित करता है जिससे बाहरी आयताकार आकृतियों में ये कार्मिक घटक, भीतरी आयतों की अपेक्षा, प्रत्येक समय पर अधिक क्रियाशील होते हैं। दूसरे शब्दों में अ₁-घटक, अ₂-घटक ब-घटक से अधिक क्रियाशील होते हैं एवं ब-घटक स-घटक से और स-घटक द-घटक से अधिक क्रियाशील होता है। इसके विपर्यास में य, र, ल, व घटक (चारों अघातिया कर्म) मंथर गति से परिचालन करते हैं (हम इन कार्मिक ऊर्जा-स्तरों की परमाणु के विभिन्न भीतरी और बाहरी कक्षों में विद्यमान इलेक्ट्रानों के ऊर्जा स्तरों से तुलना कर सकते हैं)।

सारणी 4.1 : आठ कर्म-घटक

प्राथमिक घटक (इस जीवन चक्र के घाती)	द्वितीयक घटक (इस जीवन चक्र के अघाती)
(अ) सुख-विकारी	(य) अनुभूति-उत्पादक
(अ ₁) दर्शन-विकारी	(य ₁) सुख-उत्पादक
(अ ₂) चारित्र-विकारी	(य ₂) दुःख-उत्पादक
(ब) वीर्य-अवरोधी	(र) शरीर-निर्मायक
(स) ज्ञान-आवरक	(ल) आयु (जीविता) निर्धारक
(द) दर्शन-आवरक	(व) परिवेश-उत्पादक



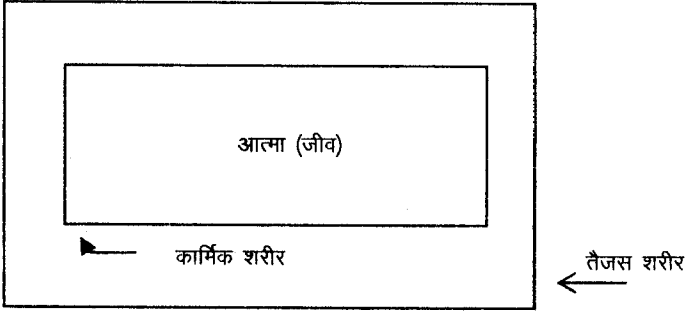
चित्र 4.2 कर्म-घटकों के अनुक्रम के साथ संदूषित आत्मा पर कर्म-पुद्गलों के आठ कार्मिक घटक : बाह्य घटक अंतरंग घटकों से अधिक क्रियाशील होते हैं।

4.3 (अगले जन्म में) किसका परिवहन (विग्रह गमन) होता है ?

हमने ऊपर यह बताया है कि चार द्वितीयक कार्मिक घटक (अघातिया कर्म) दूसरे भावी जन्म के विविध पक्षों को प्रभावित करते हैं। विशेषतः शरीर-निर्माणक घटक (नामकर्म) दो सूक्ष्म-शरीरों को उत्पन्न करता है जो हमारे भौतिक शरीर की अभिव्यक्ति के मूल आधार हैं। ये दो शरीर हैं :

1. तैजस शरीर-संपुट (Capsule) जो शरीर के विभिन्न महत्त्वपूर्ण कार्यों (तापमान) आदि को संचालित एवं संरक्षित करता है।

2. दूसरा शरीर **कार्मिक शरीर** है जो आत्मा के साथ रहने वाले कर्म-पुद्गलों के समुच्चय का प्रतीक है।



चित्र 4.3 : अपने कार्मिक शरीर और तैजस शरीर के साथ विग्रह-गमन

इस प्रकार के शरीरों का अस्तित्व पुनर्जन्म के सिद्धान्त की व्याख्या के लिये महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ये एक ऐसे वाहन का काम करते हैं जिससे आत्मा अपने सामर्थ्य से ही एक जन्म से दूसरे जन्म की ओर जाती है।¹

मृत्यु के समय, शरीर-निर्माणक कार्मिक घटक (नामकर्म), अगले शरीरी जीवन के लिये विशिष्ट स्थितियों को पहले से ही कार्यक्रमित कर देते हैं। यह संसूचन कार्मिक शरीर में होता है। मृत्यु के समय, आत्मा भौतिक शरीर से वियुक्त होकर तत्काल एक सरल रेखा में उस दिशा में गमन करती है जिसे आत्मा के साथ रहने वाले कर्म-पुद्गल पहले से ही निर्धारित कर देते हैं।²

यह परिवाहित कर्म-पुद्गल लगभग एक वायुरुद्ध सील-बंद संपुट (कैप्सूल) के समान होता है (तैजस शरीर) जिसमें कार्मिक शरीर और आत्मा होती है (चित्र 4.3 देखिये) जो आगंतुक कर्मों के आस्रव और कर्मन-कणों के निर्झरण को रोकती है। मृत्यु के समय आत्मा की शक्ति के कारण होने वाले स्वाभाविक प्रणोदन के बावजूद भी, यह बहुत दूर तक नहीं जा सकता जब तक कि यह गर्भ में या अंडे में भौतिक शरीर के रूप में प्रविष्ट न कर जाये। यदि जीव मुक्त नहीं हुआ है, तो, खंड 4.4 में परिभाषित स्थिति माध्यम इस स्थिति पर नियंत्रण करता है।

4.4. छह द्रव्य

अब हम प्रकृति की व्याख्या के लिये उन जैन नियमों पर विचार करेंगे जो आत्मा और कार्मन-कणों की अन्योन्यक्रिया, नवीन जीवन का ग्रहण, आत्मा की मुक्ति आदि विभिन्न घटनाओं की क्रियाविधि पर प्रकाश डालते हैं। जैन विज्ञान के अनुसार, इस विश्व में छह 'द्रव्य' हैं जिनके नाम निम्न हैं :

1. आत्मा (या जीव)
2. पुद्गल (पदार्थ और ऊर्जा)
3. आकाश
4. काल
5. गति माध्यम (धर्म द्रव्य)
6. स्थिति माध्यम (अधर्म द्रव्य)

वर्तमान भौतकी में पदार्थ का वर्णन काल और क्षेत्र (आकाश) के आयामों के आधार पर किया जाता है। इसके विपर्यास में, जैन विज्ञान में, आत्मा को ही काल, क्षेत्र एवं पदार्थ के आयामों के आधार पर वर्णित किया जाता है। उपरोक्त सभी द्रव्यों को हम 'पदार्थ' (Substances, Realities) कह सकते हैं। इस आधार पर उनके वर्णन में सहायता मिलेगी।

आकाश या क्षेत्र : जैन मत में आकाश को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इनमें प्रथम श्रेणी वह है जहां अन्य पांच द्रव्य (तथा स्वयं भी) पाये जाते हैं। दूसरी श्रेणी वह है जो रिक्त है अर्थात् जहां उपरोक्त पांच द्रव्य नहीं पाये जाते। हम इन्हें क्रमशः अधिष्ठित और अनधिष्ठित आकाश (लोकाकाश, अलोकाकाश) कहेंगे। अधिष्ठित आकाश अभिव्यक्त विश्व के समकक्ष है जहां अन्य पांचों द्रव्य पाये जाते हैं। इस अधिष्ठित आकाश का सहज गुण यह है कि इसमें अन्य पांचों द्रव्यों को स्थान देने की क्षमता है और इसे अनंत अति-सूक्ष्म प्रदेशों में विभाजित किया जा सकता है। इन अति-सूक्ष्म प्रदेशों में विस्तार तो है, पर इन्हें पुनर्विभाजित नहीं किया जा सकता है।³ इस संकेतन में यह धारणा निहित है कि अधिष्ठित आकाश की सीमायें हैं। इसके साथ ही, जैसा हम आगे देखेंगे कि अधिष्ठित आकाश और अनधिष्ठित आकाश की सीमा भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

धर्म और अधर्म द्रव्य (गति-माध्यम और स्थिति-माध्यम) : गति माध्यम (धर्म द्रव्य) आत्मा और पदार्थ में तथा उनके मध्य होने वाली अन्योन्यक्रिया एवं गति में सहायक होता है। इसके विपर्यास में, स्थिति माध्यम आत्मा और पदार्थ में या उनके मध्य संतुलन या स्थायित्व बनाये रखने में सहायक होता है। इनके विषय में सामान्य उपमा यह दी जाती है कि धर्म द्रव्य जल के

समान हैं जो मछलियों के गमन में सहायक होता है और अधर्म द्रव्य पेड़ की छाया के समान है जो थके हुए यात्री के विश्राम में सहायक होता है। इस प्रकार आत्मा (जीव) और पदार्थ में 'गमन' और 'स्थिति' के सामान्य गुण होते हैं, लेकिन ये दोनों द्रव्य इनकी क्रियाओं के परिचालन को संभव बनाते हैं। सामान्यतः गमन क्रिया में, विकास, अन्योन्यक्रिया, गति आदि समाहित होते हैं जबकि स्थिति-क्रियायें इसके विपरीत होती हैं।

उपरोक्त दोनों माध्यम (द्रव्य) परमाणु-रूप नहीं होते, वे अक्रिय, अमूर्त (आकृति-रहित) और संतत होते हैं। ये दोनों सहवर्ती होते हैं और हम इन दोनों माध्यमों को क्रमशः द्वितीयक और तृतीयक आकाश-क्षेत्र कह सकते हैं। इन दोनों माध्यमों के विषय में बाशम (1958, पेज 76) ने अच्छा तर्कसंगत विवेचन किया है जिसे संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है। यहां हमने उनके उद्धरण में अपनी पारिभाषिक शब्दावली का उपयोग किया है :

"द्वितीयक आकाश के रूप में धर्मद्रव्य का अस्तित्व जीव और पदार्थों के गमन-स्वभाव के तथ्य से (जैनों के लिये संतोषजनक समाधान के रूप में) सिद्ध होता है। इस गमन क्रिया के लिये कोई कारक होना चाहिये। यह न तो काल हो सकता है और न ही परमाणु हो सकते हैं, क्योंकि इनमें क्षेत्रीय विस्तार नहीं होता और जो विस्तार से रहित है, वह विस्तारवाले आकाश में पदार्थों के गमन में कारण नहीं हो सकता। यह गतिक्रिया आत्मा के कारण भी नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मायें संपूर्ण विश्व में व्याप्त नहीं होतीं। लेकिन गति की संभावना तो सर्वत्र होती है। यह गतिक्रिया आकाश द्रव्य के कारण भी नहीं हो सकती, क्योंकि यह तो अलोकाकाश के रूप में लोकाकाश की सीमा से बाहर भी रहता है। यदि गतिक्रिया का आधार आकाश को माना जाये, तो विश्व/लोक की सीमायें परिवर्ती होंगी। यह संभव नहीं है। लोकाकाश की सीमा स्थिर है। फलतः, गतिक्रिया किसी अतिरिक्त द्रव्य के कारण ही होनी चाहिये जो लोकाकाश के बाहर नहीं पाया जाता पर उसमें सर्वत्र व्याप्त रहता है। इस द्रव्य को ही 'धर्म द्रव्य या गति माध्यम' कहते हैं। इसी प्रकार के समरूप तर्कों के आधार पर अधर्म द्रव्य का अस्तित्व भी प्रमाणित किया जाता है।"

उपरोक्त छह द्रव्यों में से पहले चार द्रव्यों- जीव (आत्मा), पुद्गल, आकाश और काल- में इन दोनों माध्यमों के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता, लेकिन वे तभी कार्यकारी होते हैं जब जीव और पुद्गल या तो आकाश में 'गति-पर्याय' में रहें या 'स्थिति-पर्याय' में रहें। इस प्रकार, गति-माध्यम (धर्मद्रव्य) विशेषतः कर्म-बल या कर्म-विदलन में उदासीन सहायक होता है जबकि स्थिति माध्यम (अधर्म द्रव्य) कर्म-बंध की अवस्था में सहायक होता है। इसके साथ ही धर्म द्रव्य आत्मा द्वारा एक अस्तित्व

अवस्था (गति या शरीर) से दूसरी अस्तित्व-अवस्था (गति या शरीर) के ग्रहण करने के लिये यात्रा करने में भी सहायक होता है। इसके विपर्यास में अधर्म द्रव्य आत्मा को गर्भ में स्थापित करने में सहायक होता है।

हमने इन दो द्रव्यों को गति-माध्यम और स्थिति-माध्यम के रूप में माना है, लेकिन हम उन्हें दो बलों के रूप में भी मान सकते हैं : 1. गतिक बल और 2. स्थितिक बल। ये बल जीव एवं अजीव-दोनों तंत्रों पर कार्यकारी होते हैं। आधुनिक भौतिकी में प्रसिद्ध चार प्राकृतिक बलों के साथ इन बलों का क्या संबंध है, यह अध्याय 10 में विवेचित किया जायगा।

काल : काल द्रव्य भी अन्य द्रव्यों से प्रभावित नहीं होता। जैन यह मानते हैं कि समय की अनेक इकाइयां (digital) होती हैं अर्थात् समय में विविक्त समय कणों की अनेक श्रेणियों होती हैं जिनमें विस्तार या आयाम नहीं होता। उदाहरणार्थ, जब कोई विशेष काल-क्षण को अभिलेखित किया जाता है, तब प्रत्येक क्षण विस्तारहीन होता है। काल एक द्रव्य है जिसका न आदि है और न अन्त है। जैनों ने क्षेत्र और काल की अन्योन्यक्रिया को ध्यान में रखकर इसे चौथा आयाम माना है। काल, क्षेत्र तथा अन्य द्रव्यों के विस्तृत विवेचन के लिये बाशम का लेख, 'जैनीज्म एण्ड बुद्धिज्म' (1958, पेज 78) देखिये।

पुद्गल (पदार्थ और ऊर्जा) : यहां यह बता देना उचित है कि हम 'पुद्गल' शब्द का अनुवाद 'पदार्थ' करेंगे लेकिन जैन विज्ञान में इस शब्द में 'भौतिक ऊर्जायें' (विद्युत्, ऊष्मा, प्रकाश आदि) भी समाहित होती हैं। (इसलिये इसे 'पदार्थोर्जा' (मैटर्जी) भी कह सकते हैं)। जैनों का यह पारिभाषिक शब्द (पुद्गल) दो शब्दों से मिलकर बना है - 1. 'पुत्' (संयोग, संयोजन) और 2. गल (वियोजन, भंजन)। इससे पदार्थ के उत्पाद और विनाश या व्यय की प्रक्रिया को केंद्रीय महत्त्व मिलता है। यहां 'विनाश' पद का आपतित अर्थ यह है कि पदार्थ ऊर्जा में परिवर्तित होता है और ऊर्जा पदार्थ में परिवर्तित होती है। इसके लिये वैज्ञानिक पद 'द्रव्यमान-ऊर्जा' है, पर यहां 'पदार्थ-ऊर्जा' पर जोर दिया जाता है।

अन्तिम रूप में, पदार्थ या पुद्गल 'अन्तिम कणों' या 'चरम परमाणुओं' (U.P.) से बना होता है। इस प्रकार यही वे कण हैं जिनसे कार्मन-कण बनते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं : 1. कार्य-परमाणु और 2. कारण परमाणु (स्कंध बनाने वाले)। कार्मिक शरीर में सबसे कम (अल्पतम) कार्मन-कण होते हैं। कार्मिक संपुट में इससे अधिक कार्मन-कण होते हैं। एक 'अंतिम कण' अधिक से अधिक एक प्रदेश (आकाश-बिन्दु) अधिष्ठित करता है।

आचार्य कुंदकुंद ने 'अंतिम कर्णों' से निर्मित पुद्गलों (स्कंधों) की छह कोटियां बतायी हैं। सर्वप्रथम, 'सूक्ष्म-सूक्ष्म' पुद्गल कर्णों में विद्यमान भौतिक ऊर्जा विद्युत-ऊर्जा के समकक्ष होती हैं। पुद्गल का दूसरा रूप 'सूक्ष्म' कहलाता है जिसमें बहुतेरे 'अन्तिम कर्ण' होते हैं और, फलतः यह 'आणविक' होता है। 'सूक्ष्म-सूक्ष्म' कोटि के समान, 'सूक्ष्म' कोटि भी इतनी छोटी होती है कि इसे इंद्रियों के द्वारा पहचाना नहीं जा सकता। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि वैज्ञानिक शब्दावली में अणु परमाणुओं के सम्मिलित समूह या स्कंध को कहते हैं। संदूषित आत्मा पर संलग्नित कर्म-पुद्गल 'सूक्ष्म' कोटि के पुद्गल हैं जिनमें अनंत कार्मन कर्ण होते हैं।

कार्मिक शरीर के निर्माणक कर्म-पुद्गल अत्यंत सूक्ष्म कोटि के होते हैं। कार्मिक संपुट भी अत्यंत सूक्ष्म और अदृश्य कोटि का होता है, पर वह कार्मिक शरीर के कर्म-पुद्गल के समान अति-सूक्ष्म नहीं होता। यह कार्मिक शरीर सभी संदूषित आत्माओं में पाया जाता है। ये शरीर इतने सूक्ष्म होते हैं कि ये प्रत्येक वस्तु में से पारगमित हो सकते हैं और इनमें से सभी वस्तुयें पारगमित हो सकती हैं। (यहां हमें न्यूट्रिनो कर्णों के व्यवहार का स्मरण होता है)।

तैजस शरीर-संपुट को कुछ विद्वानों ने चुम्बकीय या वैद्युत शरीर के रूप में अनुवादित किया है। यह भी माना जाता है (सी.आर. जैन, 1929) कि यह तैजस पुद्गलों से निर्मित शरीर है और यह जीव (आत्मा) के दो अन्य शरीरों के बीच एक अनिवार्य कड़ी का काम करता है। इस तरह की कड़ी इसलिये आवश्यक है कि कार्मिक शरीर के पुद्गल अति-सूक्ष्म होते हैं और औदारिक शरीर के पुद्गल इतने स्थूल होते हैं कि इन दोनों में प्रत्यक्ष या तत्काल अन्योन्यक्रिया नहीं हो पाती।

पुद्गल की तीसरी कोटि 'सूक्ष्म-स्थूल' कहलाती है। इस कोटि की वस्तुयें चार इंद्रियों के द्वारा तो पहचानी जा सकती हैं, पर वे इतनी स्थूल नहीं होतीं कि उन्हें आंखों से देखा जा सके (जैसे, ऊष्मा, ध्वनि, आदि)। वे वस्तुयें चार इंद्रियों- स्पर्शन, रसन, घ्राण और कर्ण द्वारा गृहीत की जाती हैं लेकिन वे मूर्त या दृश्य नहीं होतीं।

पुद्गल की चौथी कोटि 'स्थूल-सूक्ष्म' कहलाती है। यह 'सूक्ष्म-स्थूल' कोटि से स्थूलतर होती है जो दृष्टिगोचर नहीं होती। यह कोटि उन पुद्गलों की है जो स्थूल या मूर्त-से दिखते हैं पर जिन्हें हम ग्रहण नहीं कर सकते (जैसे प्रकाश आदि)। इस प्रकार यहां प्रकाश को सूक्ष्मतर कर्णों का स्कंध माना जाता है। यहां हम इस धारणा की ओर भी ध्यान दिलाना चाहते हैं कि प्रकाश कभी-कभी कर्णों के प्रवाह के रूप में माना जाता है और अन्य अवसरों पर यह विद्युत-चुम्बकीय तरंग के रूप में

भी माना जाता है। (उदाहरणार्थ, देखिये, किट पैडलर, 1981)। नयी विवेचनाओं ने प्रकाश, विद्युत, ध्वनि, गैस आदि का अधिक विश्वसनीय वर्गीकरण किया है जहां सूक्ष्म-स्थूल और स्थूल-सूक्ष्म कोटि का विवेचन इंद्रिय-ग्राह्यता या दृश्यता की अपेक्षा कणों के विस्तार के आधार पर किया गया है। (देखिये, एन.एल. जैन., 1993)।

पुद्गल की पांचवी कोटि 'स्थूल' है जो द्रवों के समकक्ष मानी जाती है। इसकी अंतिम कोटि 'स्थूल-स्थूल' है जो ठोस पदार्थों के समकक्ष मानी जाती है।

ये पुद्गल की विभिन्न अवस्थायें हैं। सारणी 4.2 में पुद्गल के इस वर्गीकरण का संक्षेपण दिया गया है। हमने यहां पुद्गल के विविध वर्गीकरणों में केवल एक प्रकार का वर्गीकरण ही दिया है। उदाहरणार्थ, जैनों ने एक वैकल्पिक वर्गीकरण भी किया है जहां पुद्गल परमाणु-समूह (वर्गणा) के तेईस प्रमुख प्रकार बताये गये हैं जो पदार्थों में विद्यमान अंतिम कणों की सघनता की कोटि पर आधारित हैं। (देखियें, जवेरी, 1975, पेज 58-61)।

सारणी 4.2 : पुद्गल का वर्गीकरण

क्रमांक	नाम	परिभाषा	उदाहरण
अ-1	चरम कण (U.P.):	सूक्ष्मतम चरम कण, चरम परमाणु	-
अ-2	अणु या स्कंध के छह भेद		
1	सूक्ष्म-सूक्ष्म	अंतिम कणों से निर्मित परमाणु	कार्मन, कार्मिक शरीर एवं कार्मिक संपुट के बीच की कोटि, न्यूक्लीय ऊर्जा, विद्युत,
2	सूक्ष्म	कार्मन-कणों से निर्मित अणु और स्कंध	कार्मिक पुद्गल
3	सूक्ष्म-स्थूल	चक्षु को छोड़ अन्य चार इंद्रियों से ग्राह्य पुद्गल	ध्वनि, ऊष्मा, गैस आदि
4	स्थूल-सूक्ष्म	चक्षु से ग्राह्य पर अन्य इंद्रियों से अग्राह्य	प्रकाश
5	स्थूल	बाह्य -द्रव्यों के बिना स्वयं-संयोगी पदार्थ	द्रव पदार्थ
6	स्थूल-स्थूल	बाकी सभी कोटि के पदार्थ	ठोस पदार्थ

जिस प्रकार आत्मा (या जीव) का लक्षण जीवन या चैतन्य है जिसमें सुख, वीर्य, ज्ञान और दर्शन के घटक समाहित हैं, उसी प्रकार पुद्गल या

अजीव के भी विशिष्ट गुण होते हैं – निर्जीवता (अचेतनता), स्पर्श, रस, गंध, वर्ण। यहां 'जीव' का अर्थ शुद्ध आत्मा माना गया है क्योंकि उसके सभी लक्षण इंद्रिय-ग्राह्य नहीं होते हैं। (देखिये सारणी 4.3)

यहां महत्त्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि मौलिक कणों के द्वारा उत्पादित प्रत्येक गुण में अपने असंततता के गुण की अपेक्षा सदैव परिवर्तन होता रहता है। इस आधार पर पदार्थ और ऊर्जा-दोनों को एक एवं एकरूप ही माना जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि ध्वनि, प्रकाश और ऊष्मा आदि पुद्गल हैं लेकिन उनकी पर्याय ऊर्जात्मक है। जैनों की पदार्थ और ऊर्जा सम्बन्धी ये धारणाएँ आधुनिक भौतिकी की समस्त धारणाओं को समाहित नहीं करतीं, लेकिन ये उनसे संगत अवश्य हैं (अध्याय 10 देखिये)। इसके विपर्यास में, दूसरी ओर जैन विज्ञान 'पदार्थ पर मन के प्रभाव' से सम्बन्धित घटनाओं की अच्छी व्याख्या करता है। यह बताता है कि कार्मन-कणों से निर्मित सूक्ष्म कर्म-पुद्गल और आत्मा किस प्रकार एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं?

सारणी 4.3 जीव और अजीव के लक्षण

जीव	अजीव
1. चैतन्य (ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य)	1. अचैतन्य
2. ज्ञान	2. स्पर्श
3. दर्शन	3. रस
4. सुख	4. गंध
5. वीर्य	5. वर्ण या रूप
6. अमूर्त	6. मूर्त/अमूर्त

आत्मा (या जीव) : इस लोकाकाश में अनन्त आत्माएँ पाई जाती हैं। प्रत्येक आत्मा में अगणित संख्या में आकाश-प्रदेश पाये जाते हैं, लेकिन ये वर्तमान शरीर की आकृति की भौतिक सीमा में ही रहते हैं। इसके विपर्यास में, मुक्त आत्माएँ विशिष्ट होती हैं और वे काल, धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य के बंधनों से मुक्त हैं। वे लोकाकाश और अलोकाकाश के बीच की सीमा के उच्चतम बिन्दु पर स्थित रहती हैं। इस सीमा का उच्चतम बिन्दु, संभवतः कृष्ण-विवर (Black hole) के समान है। यह मान्यता इस आधार पर है कि कृष्ण-विवर पर भौतिकी के मानक नियम लागू नहीं होते। जब सभी कर्म-पुद्गल यहां तक कि सूक्ष्मतम कर्म-पुद्गल आत्मा से वियोजित हो जाते हैं, तब वह इस

उच्चतम बिंदु पर जाती है। इस अवस्था में आत्मा अनन्त सुख, वीर्य, ज्ञान और दर्शन प्राप्त कर लेती है।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि जैन मत में मन को छठी इंद्रिय माना जाता है जो पुद्गल से निर्मित होता है और जो पांचो इंद्रियों से प्राप्त सूचनाओं को प्रक्रमित (Process) करता है। लेकिन इसे चेतना के ज्ञान और दर्शन घटकों के रूप नहीं मानना चाहिये।

4.5 जैनों की कण-भौतिकी

सामान्यतः पुद्गल या पदार्थ में पांच वर्णों में से एक वर्ण, पांच रसों में से एक रस, दो गंधों में से एक गंध और स्पर्श के चार युग्मों में से प्रत्येक से एक स्पर्श होता है। इसका विवरण निम्न है :

- | | |
|---|--|
| 1. पांच प्रकार के वर्ण : | 1. काला 2. नीला 3. लाल 4. पीला और 5. सफेद |
| 2. पांच प्रकार के रस : | 1. मीठा 2. कडुआ 3. तीखा 4. खट्टा या अम्लीय और 5. कषैला |
| 3. दो प्रकार के गंध | 1. सुगंध और 2. दुर्गंध |
| 4. चार युग्मों के रूप में आठ प्रकार के स्पर्श : | 1. उष्ण/शीत 2. स्निग्ध/रुक्ष (आर्द्र/शुष्क) 3. मृदु/कठोर 4. लघु/गुरु |

चरम या अन्तिम कण (U.P.) में निम्न गुण पाये जाते हैं :

1. पांच वर्णों में से एक
2. पांच रसों में से एक
3. दो गंधों में से एक
4. स्पर्श के दो युग्मों (आर्द्र/शुष्क; उष्ण/शीत) में से प्रत्येक से एक-एक (1+1)

इस प्रकार अन्तिम कणों में उपरोक्त पांच गुण पाये जाते हैं। उपरोक्त गुणों के गणितीय परिकलन के आधार पर प्राथमिक अन्तिम कणों की संख्या 200 तक हो जाती है। यह बताया गया है कि आर्द्रता और शुष्कता की विभिन्न तीव्रतायें होती हैं जो पूर्णांकों के रूप में व्यक्त की जाती हैं। जब ये दोनों परस्पर में संयोग करते हैं, तो नये संयुक्त रूप बनते हैं। इस संयोग का मूल आधार यह है कि संयुक्त रूप में सूक्ष्मता या चरम कणों में आर्द्रता या शुष्कता की तीव्रता एक यूनिट से अधिक होनी चाहिये। यदि उनकी

तीव्रता केवल एक-एक यूनिट है, तो इनमें संयोग नहीं होगा। साथ ही, यदि दो चरम कणों की आर्द्रता की तीव्रतायें X और Y हों, तो उनके संयोग के लिये,

$$|X-Y| \leq 2, X=2, \dots, Y=2 \dots$$

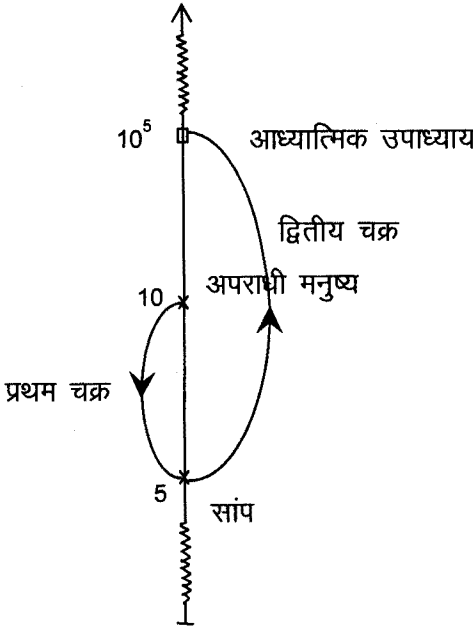
यही नियम विभिन्न शुष्कता की तीव्रता के दो चरम कणों के संयोग पर भी लागू होता है। ऐसे दो चरम कणों के संयोग के लिये, कोई प्रतिबन्ध नहीं है जिनमें एक में X इकाई आर्द्रता हो और दूसरे में Y इकाई शुष्कता हो, यदि उनमें $X > 1$ और $Y > 1$ । (यह सिद्धान्त कण-भौतिकी के पाउली-अपवर्जन नियम से पर्याप्त मात्रा में समानता प्रदर्शित करता है)।

जैनों की कण-भौतिकी में 200 से अधिक प्रकार के प्राथमिक चरम कण होते हैं, पर उनमें उपरोक्त में से प्रत्येक गुण की तीव्रता या प्रबलता एक से अनन्त यूनिटों तक परिवर्ती होती है। इन्हें सरलता से दो मूलभूत वर्गों में विभेदित किया जा सकता है : 1. कार्यभूत चरम कण 2. कारणभूत चरण कण। इस प्रकार इन दोनों प्रकार के चरम कणों से पूरा विश्व निर्मित होता है।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि चरम कणों के गुणों में मृदुता/कठिनता एवं लघुता/गुरुता के गुण अपवर्जित किये गये हैं, क्योंकि ये सघन (भार-युक्त) चरम कणों या उनके संयोगों के गुण हैं। (कार्मन-कण, चरम कणों से निर्मित सूक्ष्मतम कण हैं, इसलिये वे केवल दो चरम कणों के संयुक्त रूप भी हो सकते हैं।)

4.6 जीवन-चक्रों का व्यावहारिक निहतार्थ

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि हमारी जीवन-धुरी पर (अध्याय 2 देखिये) दूसरे पुनर्जन्म की कोटि के निर्माण में, कर्म-पुद्गल केन्द्रीय योगदान करते हैं। फलतः, एक अपराधी मनुष्य दूसरे जन्म में सांप भी हो सकता है, क्योंकि अपराध वृत्ति में भारी कर्म-पुद्गल होते हैं (देखिये, चित्र 4.4)। दूसरी ओर, एक सामान्य मनुष्य भारी कर्म-पुद्गलों के लिये प्रायश्चित्त करके आध्यात्मिक श्रेणी की उच्चतर कोटि प्राप्त कर सकता है। अर्थात् वह ऐसे कार्मिक घनत्व के साथ पुनर्जन्म ले सकता है जो उपाध्याय पद के अनुरूप हो। इस प्रकार, यह जीवन चक्र चलता रहता है। उदाहरणार्थ, कोई जीव सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ, वह अपने कार्मिक घनत्व को कम कर अपने दूसरे जीवन चक्र में मनुष्य के रूप में उच्चतर कोटि का जीवन प्राप्त कर सकता है (चित्र 4.4 देखिये)। सांप के लिये यह संभव है कि वह अपने भारी कर्म-पुद्गलों का निर्झरण कर सके। इसके लिये महावीर के जीवन में चंडकोशिक की पौराणिक कथा देखिये, (परिशिष्ट 1)।



चित्र 4.4 एक अपराधी के सांप होने के प्रथम चक्र में और उसी के आध्यात्मिक गुरु होने के द्वितीय चक्र में कर्म-पुद्गलों पर निर्भर दो क्रमागत जीवन-चक्रों के साथ जीवन की धुरी।

स्वतःसिद्ध अवधारणा 2 के परिप्रेक्ष्य में, कोई भी अपना जीवन चक्र केवल मनुष्य की अवस्था के माध्यम से ही समाप्त कर सकता है, क्योंकि इसी अवस्था में कार्मिक घनत्व अन्य जीवन रूपों की अपेक्षा तुलनात्मक रूप में अल्प होता है। मनुष्य की अवस्था के कर्म-पुद्गलों को पूर्णतः नियंत्रित करने अर्थात् आत्मा को बंदी बनाने वाले कर्मों के बन्ध को पूर्णतः एवं अंतिम रूप में वियोजित करने के उपायों का वर्णन अगले अध्याय 5 (देखिये स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 अ) में दिया जायगा। तथापि, जब आत्मा पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त होता है, तब वह माना जाता है कि उसके मुक्त होने पर तत्काल ही निम्नतर जीवन-कोटि की कोई दूसरी आत्मा उच्चतर कोटि को प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह है कि एक आत्मा की मुक्ति के अनंतर अन्य आत्मार्थे उच्चतर जीवन कोटि को प्राप्त करती हैं। इसलिये, हम स्वयं को

मुक्त करके निम्न जीवन कोटि के प्राणियों के जीवन—धुरी पर उच्चतर कोटि में जाने की प्रक्रिया में सहायक होते हैं। श्रृंखला के समान प्रगति की यह धारणा बड़ी ही रोचक है।

4.7 सामान्य समीक्षा

स्वतःसिद्ध अवधारणा 3 में दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु माने गये हैं :

1. मन और पदार्थ का विज्ञान तथा
2. पुनर्जन्म का सिद्धान्त

किट पेडलर (1981) ने भौतिकीविदों के द्वारा अनुसंधानित उन नियमों की वर्तमान प्रवृत्ति का विवेचन किया है जो न केवल पदार्थ को अनुशासित करते हैं, अपितु चेतना को भी प्रभावित करते हैं और जिनके द्वारा धातुओं का जोड़ना, वस्तुओं का स्थानांतरण, मनःपर्यय ज्ञान आदि की व्याख्या की जा सकती है। तथापि, इस दिशा में बहुत प्रयत्न करने पर भी प्रगति सीमित ही है। पेडलर केवल उन बिन्दुओं की चर्चा की है जिन पर, कम से कम, आज वैज्ञानिक अनुसंधान हो रहा है। केपरा की शोध (1975) निश्चित रूप से इससे एक कदम आगे है।

पुनर्जन्म के विषय में विल्सन (1981) ने अपनी पुस्तक में उन व्यक्तियों के विभिन्न प्रकार के विवरणों की विश्वसनीयता की परीक्षा की है जो सम्मोहन की प्रक्रिया में अपने पूर्वजन्म की अवस्था में पहुंचे और जिसका उन्होंने वस्तुनिष्ठ वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि एक सम्मोहक डाक्टर जो कीटन ने यह कहा है कि विश्व में न तो स्वर्ग ही है और न एक जीवन से दूसरे जीवन के बीच कोई विश्राम—स्थल है। मृत्यु से पुनर्जन्म की प्रक्रिया तात्कालिक होती है। यह उपकल्पना उसी के समान है जिसका विवरण हमने ऊपर दिया है।

4.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. आठ कार्मिक घटक (कर्म)

अ. प्राथमिक कर्म	=	घातिया कर्म, गुण—विकारी
ब. सुख—विकारी कर्म	=	मोहनीय कर्म
अ 1. अंतर्दृष्टि विकारी	=	दर्शन मोहनीय कर्म
अ 2. चारित्र विकारी	=	चरित्र मोहनीय कर्म

ब. वीर्य-अवरोधक कर्म	=	अंतराय कर्म
स. ज्ञान-आवरक कर्म	=	ज्ञानावरण कर्म
द. दर्शन-आवरक कर्म	=	दर्शनावरण कर्म
2. द्वितीयक कर्म (अघातिया कर्म)		
1. अनुभूति-उत्पादक कर्म	=	वेदनीय कर्म
(i) सुख-उत्पादक कर्म	=	सातावेदनीय कर्म
(ii) दुःख उत्पादक कर्म	=	असातावेदनीय कर्म
2. शरीर (व्यक्तित्व)	=	नाम कर्म
- निर्माणक कर्म		
3. जीविता-निर्धारक कर्म	=	आयु कर्म
4. पर्यावरण -निर्धारक कर्म	=	गोत्र कर्म
2. शरीर के प्रकार		
कार्मिक शरीर	=	कार्मन-कणों से निर्मित
तैजस संपुट	=	तैजस शरीर
3. छह द्रव्य		
1. आत्मा	=	जीव, आत्मा
2. पदार्थ	=	पुद्गल (पदार्थ + ऊर्जा)
3. आकाश	=	क्षेत्र
4. अधिष्ठित आकाश	=	लोकाकाश
5. अनधिष्ठित आकाश	=	अलोकाकाश
6. गति माध्यम	=	धर्म द्रव्य
7. स्थिति माध्यम	=	अधर्म द्रव्य
8. परिवर्तन माध्यम	=	काल द्रव्य
9. आकाश प्रदेश	=	प्रदेश
10. अंतिम/चरम/ सूक्ष्मतम कण	=	परमाणु,
11. अव-परमाणुक कण	=	सूक्ष्म परमाणु घटक, अणु
12. कण-समूह/ कण-वर्ग	=	वर्गणा

टिप्पणियाँ

1. पी. एस. जैनी : पृष्ठ. 125

नाम कर्म शरीर से सम्बन्धित है और यह कहा जाता है कि यह दो सूक्ष्म शरीरों को उत्पन्न करता है जो हमारे शरीर की अभिव्यक्ति में कारण होते हैं। ये दो शरीर हैं – 1. तैजस शरीर— उष्ण शरीर, जो जीवन तंत्र की तापमान—जैसी महत्त्वपूर्ण क्रियाओं को बनाये रखता है और 2. कार्मण शरीर, जो किसी भी समय पर आत्मा के साथ उपस्थित सम्पूर्ण कर्म—पुद्गलों का योग होता है। जैनों के पुनर्जन्म सिद्धांत की अवधारणा में इन दोनों शरीरों के अस्तित्व की बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ये शरीर आत्मा को एक जन्म से दूसरे जन्म तक जाने के लिये (यद्यपि अपनी सामर्थ्य के कारण भी) वाहन—माध्यम का काम करते हैं।

2. पी. एस. जैनी, पृष्ठ. 126—128

मृत्यु के समय ऐसा लगता है कि अघातिया कर्म भावी शरीर या जन्म के लिये विशिष्ट दशायें पूर्व—निर्धारित कर देते हैं। इससे सम्बन्धित सूचनायें कार्मण शरीर द्वारा वाहित की जाती हैं जो तैजस शरीर के साथ आत्मा को, अपने वर्तमान भौतिक शरीर से मुक्त होने पर, नये शरीर में प्रतिस्थापित कर देता है। ऐसा माना जाता है कि आत्मा में स्थूल शरीर से मुक्त होने पर सहज ही पर्याप्त संचालन बल होता है, जिससे यह अविश्वसनीय गति से सीधे ही उस लक्ष्य की ओर बढ़ता है जिसे उसके सहवर्ती कर्मों ने पूर्व—निर्धारित किया है। यह गति विग्रह गति (या पुनर्जन्म के लिये गति) कहलाती है। यह माना जाता है कि नये लक्ष्य की चाह कितनी भी दूरी पर क्यों न हो, यह केवल एक समय में ही वहां पहुंचा देती है।

3. पी. एस. जैनी, पृष्ठ 98

आकाश का विभेदक गुण यह है कि उसमें सभी द्रव्यों को स्थान देने की क्षमता है। यह उस स्थिति में ही सही है कि यह वास्तव में (लोकाकाश के प्रकरण में) स्थान दान करता है या नहीं (अलोकाकाश के प्रकरण में)। इसलिये 'आकाश' केवल एक द्रव्य है और इसका विस्तार अनन्त है। इसके साथ ही, आकाश को अत्यन्त सूक्ष्म या लघुतम 'आकाश—बिंदुओं' (प्रदेशों) में विभाजित किया जा सकता है। इन प्रदेशों में कुछ विस्तार तो होता है, पर वे पुनर्विभाजित नहीं किये जा सकते।

अध्याय 5

कर्मों का व्यावहारिक बन्ध

(स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 अ)

स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 अ : कर्म का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति या असंयम, प्रमाद, कषाय और योग के कारण होता है।

5.1. स्वतःसिद्ध अवधारणा

पिछले अध्यायों के विवरण से हम यह जानते हैं कि कर्म-पुद्गलों के घनत्व से विभिन्न जीव/जातियों में अंतर होता है। साथ ही, मनुष्य-स्तर पर यह घनत्व कम होता है। तथापि, आत्मा की सम्पूर्ण क्षमता का साक्षात्कार करने के लिये यह महत्त्वपूर्ण है कि कर्म-पुद्गलों को उससे पूर्णतः वियोजित किया जाय। इसके पूर्व कि हम यह जानकारी करें कि यह लक्ष्य कैसे प्राप्त होता है, यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि कर्मों का बन्ध, व्यावहारिक दृष्टि से, कैसे होता है ?

फलतः अब हम अध्याय 2.4 में विकसित उन भावात्मक चर्चाओं से सम्बन्धित व्यावहारिक पक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। मन, वचन और काय की क्रियाओं, या संक्षेप में जैन योग के कारण आत्मा के चारों ओर कर्म बल-क्षेत्र उत्पन्न होता है, जबकि व्यक्ति की भावात्मक क्रियाओं के कारण अर्थात् अपनी इच्छाओं के कारण कर्म का बन्ध होता है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि कोई भी क्रिया, स्वयं न तो कर्म-बल क्षेत्र बना सकती है और न ही कर्म-कणों को आकर्षित कर सकती है। यह उसी प्रकार समझना चाहिये जैसे किसी भी नवजात शिशु में सही या गलत काम करने की कोई भावना नहीं होती। लेकिन जब ये भावात्मक क्रियायें की जाती हैं, तब कर्म-कण आकर्षित होते हैं और कर्म-बन्ध हो जाता है।¹

आत्मा + मन, वचन, काय की क्रियायें → कर्म-कण आकर्षण
→ कर्म-बन्ध

इस कर्म-बन्ध के लिये स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 अ में पांच कारण या कारक दिये गये हैं :

1. मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन (विपरीत दृष्टिकोण)
2. अविरति या असंयम
3. प्रमाद
4. कषाय और

5. योग या मन, वचन और काय की क्रियायें

ये सभी कारक कर्म—पुद्गल और कर्म—बलों को प्रभावित करते हैं। हम इन्हें पांच कार्मिक एजेन्ट (अभिकर्ता) कहेंगे। इनमें से प्रत्येक कारक आत्मा के चारों घटकों — ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य को प्रभावित या दुर्बल करते हैं।

सबसे पहला कारक मिथ्यात्व है। इसका अर्थ है आत्मा के स्वरूप के विषय में असत्य धारणायें अथवा 'मैं कौन हूँ' के विषय में भ्रांत धारणायें। हमारे उपरोक्त विवरणों के सन्दर्भ में इसका अर्थ यह होगा कि मिथ्यात्वी पूर्वोक्त स्वतःसिद्ध अवधारणाओं 1-3 में विश्वास नहीं करता, फलतः आत्मा के ज्ञान और दर्शन के घटक आवरित हो जाते हैं।

दूसरे कारण अविरति या असंयम का अर्थ है कि जीव में आत्म-नियंत्रण या संयम नहीं है जिसके कारण वह अशुभ या अनैच्छिक क्रियायें या कर्म करता है। इससे सुख का घटक विकृत होता है। इसी प्रकार, प्रमाद पद का अर्थ है — मोक्ष प्राप्ति की ओर उन्मुखता के प्रति अक्रियता या जड़ता। इससे आत्मा का वीर्य घटक बाधित होता है।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि जैन योग का अर्थ मन, वचन और काय की सामान्य क्रियायें हैं। आधुनिक 'योग' शब्द के अर्थ के रूप में इस विषय में भ्रांति नहीं करनी चाहिये। सकारात्मक (जैन) योग (पुण्यार्जनी क्रियायें) लघु घनत्व के या पुण्य के कर्म—पुद्गलों को आकर्षित करता है और नकारात्मक क्रियायें (हानिकारक क्रियायें) भारी या पाप के कर्म—पुद्गलों को आकर्षित करती हैं। (देखिये, परिशिष्ट 3 ब, उद्धरण 5.1)

कषाय कर्म—बन्ध का अंतिम कारक है। यह कर्म—बन्ध की दृढ़ता एवं तीव्रता का मुख्य घटक है। (देखिये परिशिष्ट 3 ब, उद्धरण 5.2)। यह घटक आत्मा के चारों घटकों को प्रभावित करता है। इसका पूर्ण विवरण हम खंड 5.3 में प्रस्तुत करेंगे। कर्म—बन्ध के उपरोक्त पांचो कारकों का संक्षेपण निम्न है :

मिथ्यात्व	:	ज्ञान—दर्शन घटकों का आवरक
अविरति	:	सुख—घटक का विकारक
प्रमाद	:	वीर्य या क्षमता का बाधक
योग	:	पुण्य (लघु) या पाप (सघन) कर्मों का आकर्षक
कषाय	:	चारों घटकों को प्रभावित करता है

5.2 व्यवहार में कर्म—घटक

अब हम अध्याय 4.2 में परिभाषित आठ प्रकार के कर्मों में से प्रत्येक के व्यावहारिक परिणामों का विवरण देंगे।

दर्शन मोहनीय के उदय से मिथ्या दृष्टिकोण उत्पन्न होता है। इसमें अतिवाद और सही और गलत के बीच विभेदन की अक्षमता भी समाहित है। चारित्र मोहनीय के घटक के उदय से कषाय और आवेग उत्पन्न होते हैं जो सम्यक्-चारित्र को उन्मादित करते हैं। ये दोनों ही घटक एक-साथ काम करते हैं और आध्यात्मिक प्रगति को अवरुद्ध करते हैं।

ज्ञानावरण कर्म के उदय से ज्ञान की पूर्णता में पांच प्रकार से बाधाएं आती हैं -

1. इंद्रिय और मन की क्रियाओं में बाधा डालता है (मति ज्ञान)
2. तर्क-क्षमता में बाधा डालता है (श्रुत ज्ञान),
3. दूर-दर्शन सामर्थ्य की अभिव्यक्ति (अवधि ज्ञान) में बाधा डालता है,
4. मन के विचारों को जानने में बाधा डालता है (मनःपर्यव ज्ञान) और
5. सर्वज्ञता की क्षमता की अभिव्यक्ति में बाधा डालता है।

दर्शनावरण कर्म आंख या अन्य इंद्रियों के प्रत्यक्ष या परोक्ष दर्शन में बाधक होता है, अवधि-ज्ञान-पूर्वी दर्शन में बाधा डालता है और केवल दर्शन की अभिव्यक्ति में बाधक होता है।

सुख-विकारी मोहनीय कर्म (दर्शन और चारित्र मोहनीय कर्म) आत्मा की ऊर्जा या क्षमता को सीमित करता है, मन, वचन और काय की क्रियाओं को भी सीमित करता है। यह भ्रांति उत्पन्न करता है। यह इच्छायें उत्पन्न करता है। इन सब कारणों से यह सभी कर्मों के संचालन में प्रेरक बनता है। इसका प्रभाव उसी प्रकार का होता है जैसे उन्माद की दशा में स्वयं में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है।

अब हम द्वितीयक कार्मिक घटकों (अधातिया कर्मों) के समुच्चय के प्रभावों का संक्षेपण करेंगे। वेदनीय कर्म का घटक सुख-दुःख की अनुभूति की मानसिक अवस्थाओं को अभिलक्षणित करता है। नाम-कर्म का घटक जाति, लिंग और वर्ण (तथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व) को निर्धारित करता है। आयु कर्म का घटक अगले जन्म की दीर्घ-जीविता निर्धारित करता है। गोत्र कर्म का घटक उन परिस्थितियों को निर्धारित करता है जो आध्यात्मिक प्रगति की ओर ले जाते हैं।

5.3 भावात्मक क्रियायें और चार कषाय

अब हम व्यवहार में कर्म की गतिशीलता का विवरण देंगे हैं। मान लीजिए कि किसी भी भावात्मक क्रिया के कारण कर्म-बन्ध में समाहित

कार्मन-कणों की संख्या x है। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि नये कर्म पुद्गल वियोजन या उदय के पूर्व कुछ समय के लिये प्रसुप्त या निष्क्रिय रहते हैं। सारणी 5.1 में x कार्मन कणों से सम्बन्धित चार महत्त्वपूर्ण कारक दिये गये हैं।

सारणी 5.1 सूत्र $x_1 + \dots + x_8 = x$ के साथ बन्धन में समाहित x -कार्मनों की आयु एवं सक्रियता

कर्म-घटक	प्रत्येक घटक की मात्रा	वियोजन का समय-अंतराल	वियोजन की तीव्रता
अ	x_1	$(t_1^{(1)}, t_1^{(2)})$	f_1
ब	x_2	$(t_2^{(1)}, t_2^{(2)})$	f_2
स	x_3	$(t_3^{(1)}, t_3^{(2)})$	f_3
द	x_4	$(t_4^{(1)}, t_4^{(2)})$	f_4
य	x_5	$(t_5^{(1)}, t_5^{(2)})$	f_5
र	x_6	$(t_6^{(1)}, t_6^{(2)})$	f_6
ल	x_7	$(t_7^{(1)}, t_7^{(2)})$	f_7
व	x_8	$(t_8^{(1)}, t_8^{(2)})$	f_8

सारणी 5.1 में x_1, \dots, x_8 कार्मिक घटकों में कार्मन-कणों के विभिन्न परिमाण हैं, $t_1^{(1)}, t_1^{(2)}$ आदि विभिन्न कर्मों के वियोजन के अनुरूप समय अंतराल हैं और f_1, \dots, f_8 वियोजन के समय बन्ध की तीव्रतायें हैं।

कर्मबन्ध में भाग लेने वाले कार्मन-कणों की सही संख्या x भावों की तरतमता पर निर्भर करती है जिसके कारण क्रिया की जाती है। विभिन्न कार्मिक घटकों के बीच x कणों का वितरण क्रिया की प्रकृति पर निर्भर करता है अर्थात् क्रिया की प्रकृति अभेदित कार्मन-कणों के द्वारा गृहीत विशिष्ट कार्मिक घटकों का निर्धारण करती है। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक कर्म-घटक, अ, ब आदि के लिए वियोजन समय, t स्थिर रहता है लेकिन विभिन्न घटकों के लिए यह परिवर्ती भी हो सकता है।

प्रत्येक घटक का अनुरूपी स्थितिज बल, f और वियोजन-समय, t कषायों की तरतमता पर निर्भर करता है जिसके आधार पर कोई क्रिया की जाती है। एक बार कर्मनों का प्रभाव व्यक्त होने पर यह जीव/आत्मा से निसर्जित हो जाता है और पुनः अपनी अविभेदित अवस्था में आ जाता है और, इस प्रकार वह मुक्त कर्मन-कणों के अनन्त भंडार में समाहित हो जाता है।²

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि सक्रियण का समय, निसर्जन की स्थिति और प्रत्येक कार्मिक घटक की प्रबलता भिन्न-भिन्न भी हो सकती है। साथ ही, यह भी संभव है कि कर्मनों का समय-पूर्व वियोजन (उदीरण) और उनके प्रभावों का दमन आदि भी कुछ विशेष साधनों के माध्यम से संभव हो जाता है (अध्याय 7 देखिये)।

कषाय कर्म-बंध का मुख्य कारक है। इसके चार भेद हैं : क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चार कषायों को हम मुख्य कषाय कहेंगे। इन्हें चित्र 5.1 में निदर्शित किया गया है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि लालसा और संग्रह या खान-पान की अधिकता की प्रवृत्ति-दोनों ही लोभ के रूप हैं। लोभ एवं माया के कारण कर्मन-कणों का आर्कषण बहुत प्रबल होता है। इसके विपर्यास में क्रोध और मान के कारण इनका आकर्षण दुर्बल होता है। ये दोनों कषायें एक साथ भी हो सकती हैं। किसी भी विशिष्ट स्थिति में, शरीर, वचन और मन की क्रियायें (देखिये चित्र 5.2 अ) कर्म-क्षेत्र को सक्रिय बनाती हैं। इससे नये कर्मन संकलित होने लगते हैं और वे चारों कषायों की तरतमता के कारण आकर्षित और विकर्षित होते हैं (देखिये चित्र 5.2 अ)। नये कर्मन कण जीव के साथ विद्यमान कर्म-पुद्गलों के साथ आत्मा के ऊर्जा-घटक की सहायता से बन्धन की प्रक्रिया से पार होते हैं जिससे कषायें रेखित हो जाती हैं। (देखिये, चित्र 5.2 ब)। यह विद्यमान कर्म-पुद्गलों की दृष्टि से व्यक्तिगत क्रिया है। इसके बाद उत्तरवर्ती भावात्मक क्रियाओं के कारण उनके विभिन्न कार्य निश्चित किये जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि अच्छे कामों से पुण्य कर्म का संयोजन होगा, जबकि बुरे कामों से पाप कर्मों का संयोग होगा (देखिये चित्र 5.2 ब)। फलतः अंत में क्रमशः दुर्बल या प्रबल कर्म-बन्ध होगा। यहां यह ध्यान दीजिये कि व्यवहार में ये कर्म-बन्ध की प्रक्रियायें अध्याय 2 में वर्णित भावात्मक

प्रक्रियाओं से किस प्रकार साम्य रखती हैं। यहाँ चित्र 5.2 विशेषतः चित्र 2.1 का व्यावहारिक निदर्शन है।

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यहां क्रोध और मान को 'द्वेष-समूह' में रखा गया है जबकि माया और लोभ को 'राग-समूह' में रखा गया है, क्योंकि ये कषायें अनुरूपी भावनात्मक दशाओं को प्रतिबिम्बित करती हैं।

5.4 कषायों की तरतमता या कोटि

अब हम चार प्रमुख कषायों – क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रबलता की सोदाहरण व्याख्या करेंगे और इन्हें हम 0,1,2,3,4 की पांच कोटियों के रूप में व्यक्त करेंगे। वस्तुतः ये कोटियां कर्मबन्ध के घनत्व के अनुपात में होती हैं,

कर्म-बन्ध का घनत्व \propto कषायों की कोटि

अर्थात् कषायों की कोटि जितनी ही उच्च होगी, कर्म-बन्ध भी उतना ही वृहत्तर होगा। इसके वियोजन का समय भी उतना ही अधिक होगा और कर्म-बल भी उतना ही प्रबलतर होगा।

क्रोध, मान, माया और लोभ की 0,1,2,3 व 4 की कोटियों को निम्न उपमाओं द्वारा निदर्शित किया जा सकता है (देखिये, स्टीवेंसन, 1915 पेज 124)

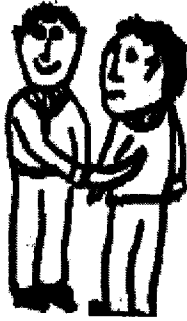
1. **क्रोध कषाय** : क्रोध के प्रकरण में उसकी कोटि 1 पानी पर लकड़ी से खींची गई रेखा के समान होती है जो तत्काल मिट जाती है। इसकी कोटि 2 समुद्र के किनारे की रेत पर खींची गई रेखा के समान होती है जो समुद्री ज्वार-भाटा से मिट जाती है। इसकी कोटि 3 रेतीली जमीन पर बनाई गई खाई के समान होती है जो एक वर्ष की रितु के बाद बरसात में स्वयं ही मिट जाती है। इसकी कोटि 4 सबसे निकृष्टतम होती है और यह पहाड़ पर उत्पन्न गहन दरार के समान होती है जो अनन्त काल तक रहती है। क्रोध की शून्य कोटि का अर्थ है – सहिष्णुता और शांति।



(अ) क्रोध



(ब) मान



(स) माया



(द₁) अधिक खान-पान की प्रवृत्ति



(द₂) लोभ या लालसा

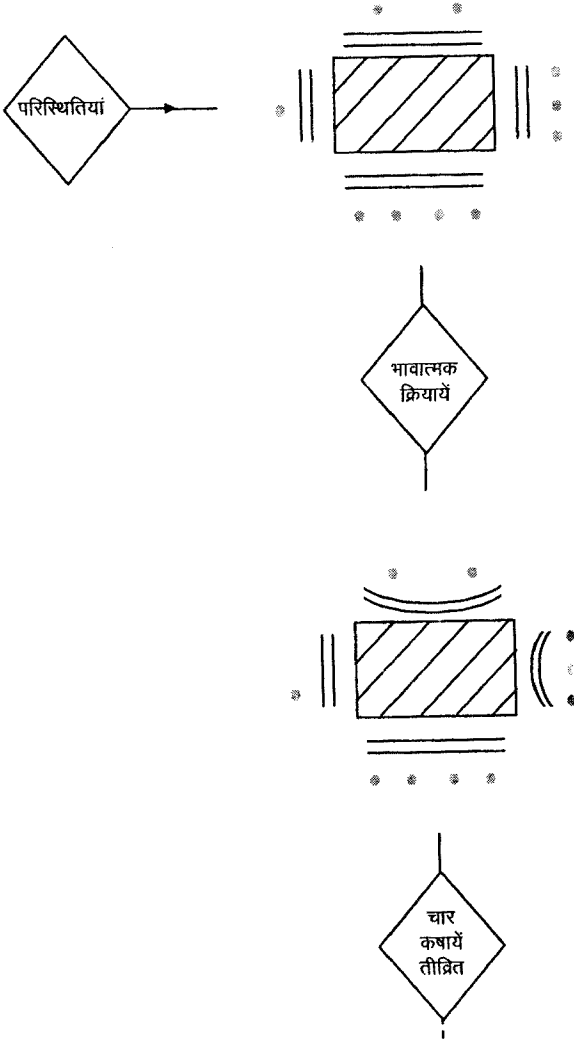
चित्र 5.1 जैन धर्म में चार प्रमुख कषायें

2. मान कषाय : अब हम मान कषाय की पांच कोटियों को निदर्शित करेंगे। इसकी प्रथम कोटि वृक्ष की शाखा के पतले स्कंध के समान होती है जो नरम होती है और सरलता से मुड़ सकती है। इसकी दूसरी कोटि वृक्ष की नयी शाखा के समान होती है जो तूफानी हवाओं से ही मुड़ सकती है (या अधिक बल लगाने पर मोड़ी जा सकती है)। मान कषाय की

तीसरी कोटि परिपक्व वृक्ष से काटे गये लकड़ी के लट्टे के समान होती है जो तैलित और गरम करने पर ही मोड़ी जा सकती है। इस कषाय की चौथी कोटि वृक्ष पर आधारित किसी भी अनुरूपता से भिन्न होती है। यह ग्रेनाइट के टुकड़े के समान मोड़ी नहीं जा सकती। इस कषाय की शून्य कोटि नम्रता और विनय की संसूचक है।

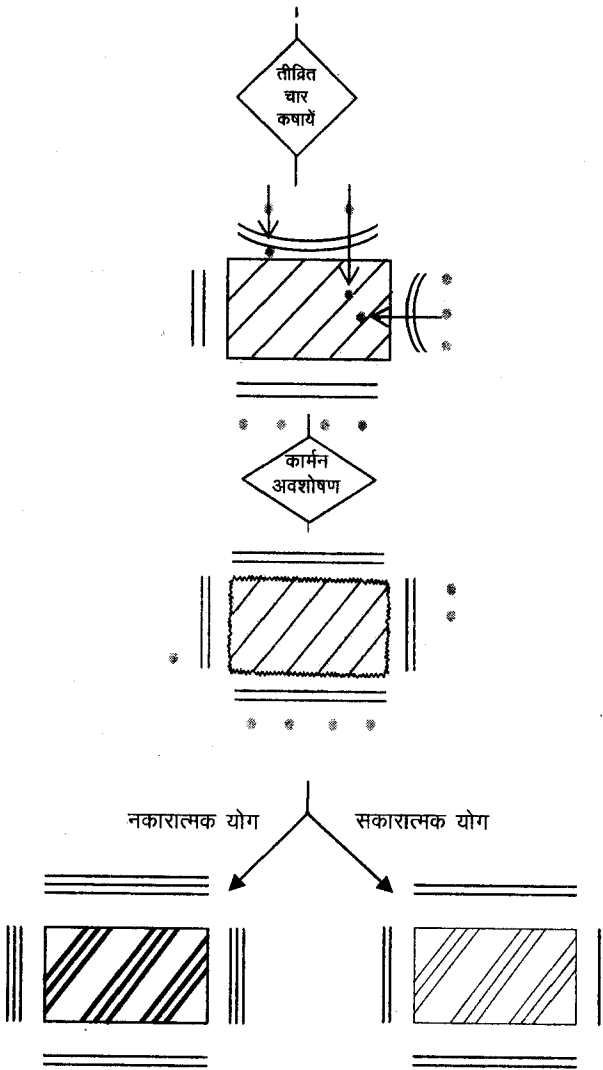
3. **माया कषाय** : इस कषाय की तुलना कुटिलता से की जा सकती है। इसकी प्रथम कोटि गेहूं के वृंत के समान होती है जो हवा से ही झुक जाती है और थोड़े से ही प्रयत्न से सीधा हो जाती है। इसकी दूसरी कोटि किसी बगीचे या उद्यान की सीमा-रक्षक घास के समान होती है जिसे बुरी तरह से काट दिया गया हो और जिसे ठीक करने में काफी श्रम और समय लगता हो। इसकी तीसरी कोटि एक टेढ़े-मेढ़े दांत के समान होती है, जिसे यदि समय रहते नियंत्रित न किया गया, तो वह सीधा नहीं हो सकता। इसकी चौथी कोटि किसी वृक्ष की गांठ के समान होती है। इसकी शून्य कोटि सरलता की सूचक है।
4. **लोभ कषाय** : यह कहा जाता है कि लोभ मनुष्य के हृदय (और बुद्धि) के स्वरूप को परिवर्तित कर देता है। इसकी प्रथम कोटि जलीय पेंट या लेप के समान होती है जिसे पानी से शीघ्र ही सरलता से दूर किया जा सकता है। इस कोटि में प्राणी का हृदय पीले रंग का हो जाता है। इसकी दूसरी कोटि खाने-पकाने की उस कड़ाही के समान होती है जिसमें वसायें चिपट जाती हैं और उनको साफ करने में काफी श्रम करना पड़ता है। इस कोटि में प्राणी का हृदय मटमैला हो जाता है। इसकी तीसरी कोटि कपड़े पर तेल के दाग के समान होती है जिसे केवल 'शुष्क-सफाई' की विधि से ही दूर किया जा सकता है। इस कोटि में प्राणी का हृदय काफी रंगा हुआ हो जाता है। इसकी चौथी कोटि एक स्थायी रंजक के समान होती है जिसे दूर करना कठिन ही होता है। लोभ कषाय की शून्य कोटि पूर्ण संतोष एवं चतुर्विध दान की प्रवृत्ति की प्रतीक है।

कषायों की इन कोटियों को इनके प्रभावों की समय-सीमा से भी सह-सम्बन्धित किया जा सकता है (देखिये, ग्लेजनप, 1942)। प्रत्येक प्रमुख कषाय की चौथी कोटि की स्थिति जीवन-पर्यंत होती है। इसकी तीसरी कोटि के प्रभाव -



चित्र 5.2 दो भागों में निदर्शित कार्मिक बन्ध का गतिक-रूप का प्रवाह-क्रम आरेख :

- (अ) सक्रियकृत कर्म-बल के साथ परिस्थिति और भावात्मक क्रियायें



चित्र 5.2 ब कषाय और योग से कर्म का आस्रव, बन्ध और कर्म-पुद्गलों का पुनर्गठन

जीवन एक वर्ष का होता है। प्रमुख कषाय की दूसरी कोटि चार माह तक प्रभावी होती है और पहली कोटि को दमित या अनभिव्यक्त कषाय कहते हैं जिसका प्रभाव पंद्रह दिन तक रहता है। सभी प्रमुख कषायों की शून्य कोटि का अर्थ है – प्राणी की उच्चतर आध्यात्मिक कोटि। मेहता (1939) ने जैन मनोविज्ञान के विषय में अच्छा विवरण दिया है। उन्होंने विशेषतः कषाय और कार्मन-कर्मों के सिद्धांत को आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में विवेचित किया है।

हमने अभी चार प्रमुख कषायों का उल्लेख किया है – क्रोध, मान, माया और लोभ। वस्तुतः ये चारों कषायें नौ प्रकार के नो-कषायों या भावनाओं के लिये उत्तरदायी होती हैं। इनके नाम हैं :

1. हास्य 2. रति 3. अरति 4. जुगुप्सा (घृणा) 5. भय
6. दुःख 7. स्त्री वेद 8. पुरुष वेद 9. नपुसंक वेद

यहां चिंता को भय में समाहित किया गया है, लेकिन यह अपने प्रति हिंसा के भाव की अधिक प्रतीक है। इसके विषय में अध्याय 6 में विवेचन किया जायगा।

5.5. पारिभाषिक शब्दावली

1. योग = मन, वचन, काय की क्रिया
भाव = मानसिक प्रवृत्तियां

2. कर्म-बन्ध के पांच कारण

मिथ्यादर्शन / मिथ्यात्व = त्रुटिपूर्ण / असत्य
दृष्टिकोण

अविरति = असंयम, व्रतों का पालन न करना

प्रमाद = आलस्य, अरुचि

चार प्रमुख कषाय : क्रोध, मान, माया और लोभ-लालसा, संग्रह की वृत्ति, असीम इच्छायें

3. नो-कषाय या द्वितीयक कषाय
राग : प्रीति, अनुराग आदि
द्वेष : घृणा, ईर्ष्या आदि

टिप्पणियां

1. पी. एस. जैनी, पेज 112

“आत्मिक ऊर्जा का गुण राग-द्वेषात्मक अशुद्धियों के कारण दिग्भ्रमित हो जाता है, और आत्मा में कम्पन उत्पन्न करता है (योग)। इससे आत्मा में विभिन्न भौतिक कर्मों का आस्रव होता है। वास्तव में, यहां कम्पन का अर्थ व्यक्ति की भावात्मक क्रियायें हैं। ये क्रियायें मन, वचन या काय के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं।”

* सारणी 5.1 में विभिन्न कार्मिक घटकों में कर्मन-कणों की संख्या $X_1, X_2 \dots X_8$ के रूप में व्यक्त की गई हैं। इसके अनुरूप $X_1, X_2 \dots X_8$ के वियोजन के समय अंतराल $(t_1^{(1)}, t_1^{(2)}) \dots (t_8^{(1)}, t_8^{(2)})$ हैं। इस प्रकार कार्मिक घटक ‘अ’ के लिये वियोजन समय t_1^1 समय से प्रारंभ होता है और t_1^2 समय पर समाप्त होता है। इसी प्रकार, अन्य घटकों के विषय में भी समझना चाहिये। वियोजित होने वाले कार्मिक घटकों की तीव्रतायें क्रमशः $f_1 \dots f_8$ हैं। यहां यह समझा जाता है कि वियोजन प्रक्रम प्रत्येक घटक के लिये एक समान स्थिर होता है। लेकिन यह विभिन्न घटकों में परिवर्ती भी हो सकता है।

2. पी. एस. जैनी, पेज 113

“किसी भी क्रिया के बाद आत्मा के प्रति आकृष्ट होने वाले कर्मों के प्रदेशों का वास्तविक परिमाण उन भावों की कोटि पर निर्भर करता है जिनके कारण क्रिया की जाती है। इसके अतिरिक्त क्रिया की प्रकृति का स्वरूप कर्म की प्रकृति को निर्धारित करता है जो इसके पूर्व अविभेदित मानी जाती है। इन विभिन्न कर्मों की स्थिति एवं प्रबलता अर्थात् ये कितने समय तक आत्मा के साथ बंधे रहेंगे और आत्मा पर इनका किस प्रकार का वास्तविक प्रभाव पड़ेगा, इस बात पर निर्भर करती है कि क्रिया करते समय क्रोध या लोभ आदि कषायों की कोटि क्या थी। एक बार कर्म ने जब अपना प्रभाव दिखा दिया (उदय में आया), यह पके फल के समान आत्मा से निर्झरित हो जाता है और अपनी अविभेदित अवस्था को पुनः प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार यह पुनः लोक-व्यापी कर्म पुद्गलों के अनंत-संचय का अंश बन जाता है।”

अध्याय 6

कार्मन—कणों का सीमांत या चरम अवशोषण

(स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 ब)

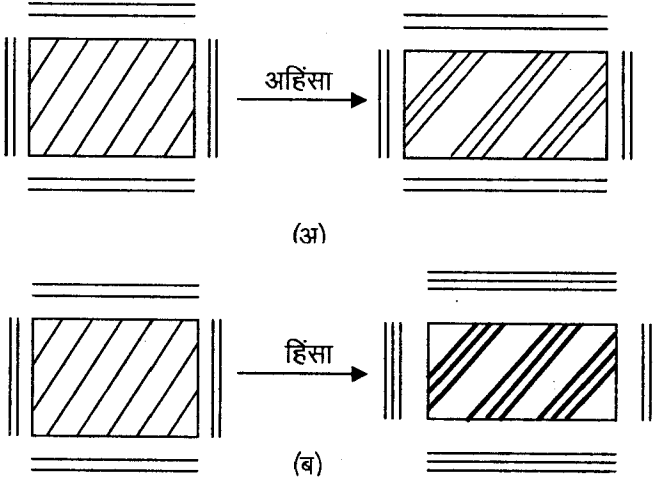
अपने प्रति अथवा अन्य के प्रति की जाने वाली हिंसा नये अतिमारी पापमय कर्म—पुद्गलों का बन्ध करती है। इसके विपर्यास में, जीवों के प्रति सकारात्मक अहिंसक वृत्ति के साथ मोक्षमार्ग पर जाने की क्रियाओं में सहायक होना नये लघुतर पुण्यमय कर्म—पुद्गलों का बन्ध है।

6.1 स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 ब

पूर्ववर्ती अध्याय 5 में हमने यह ज्ञात किया है कि वे कौन से कारक हैं जिनसे कर्म—प्रवाह संभव होता है। अध्याय 5 में हमने यह भी बताया है कि सकारात्मक क्रियाओं (योग) से बन्धनीय कार्मन—कण लघुतर या पुण्यमय कर्म—पुद्गलों में परिवर्तित होते हैं और नकारात्मक क्रियाओं (योग) से वे भारी या पापमय कर्म—पुद्गलों के रूप में परिवर्तित होते हैं। इसके विपर्यास में, पुण्यमय कर्म—पुद्गलों के उदय से अच्छा फल मिलता है और भारी या पापमय कर्म—पुद्गलों के बन्धोत्तर उदय से बुरे फल मिलते हैं। इसका अर्थ यह है कि पुण्यमय कर्म—पुद्गल आध्यात्मिक प्रगति के लिये अच्छा वातावरण प्रदान करते हैं और पापमय कर्म—पुद्गल भावी जीवन—चक्रों में जीवन को निम्न स्तरों की ओर ले जाते हैं।

यहां यह प्रश्न उठता है कि प्राणी पुण्यमय (लघुतर) या पापमय (गुरुतर) कर्म—पुद्गलों को कैसे एकत्रित करता है ? बन्ध के इन दो सीमान्तों की ओर ले जाने वाली क्रियायें क्रमशः हिंसा और अहिंसा के रूप में होती हैं (चित्र 6.1)। यहां हिंसा शब्द का उपयोग व्यापक अर्थ में किया गया है। व्यक्ति मन, वचन और काय की भावात्मक क्रियाओं से स्वयं (कृत) या दूसरों को हिंसा करने के लिये प्रेरित करता है (कारित), या फिर दूसरों के द्वारा की गई हिंसा का अनुमोदन करता है (अनुमोदित)। इस प्रकार, वह तीन प्रकार से — कृत, कारित या अनुमोदित हिंसा करता है। इसके साथ ही, हिंसा शब्द से ही ऐसी क्रिया का संकेत मिलता है जो दूसरों के लिये (या स्वयं के लिये) पीड़ा या दुःख उत्पन्न करे या कषायों को तीव्र करे। वस्तुतः, यह शब्द 'प्राण लेने' के अर्थ को भी समाहित करता है। यह क्रिया न केवल दूसरों को दुःख पहुंचाने के लिये भर्त्सनीय है, अपितु कषायों की

तीव्रता बढ़ाने के लिये भी निंदनीय है। यह हिंसक के कर्म-बन्ध की प्रबलता को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाती है।



चित्र 6.1 आत्मा पर (अ) सकारात्मक अहिंसा और (ब) हिंसा का प्रभाव

स्वतःसिद्ध अवधारणा 1 से हमें ज्ञात है कि सभी प्राणियों में कर्म-बन्ध से वियोजित होने की इच्छा रहती है। उन्हें स्वयं दुःखी होने की अपेक्षा, गतिशील अहिंसा के माध्यम से इस लक्ष्य की ओर बढ़ने में सहायता करना सकारात्मक अहिंसा है। आत्मा का सहज गुण तो 'जीने दो और दूसरों के जीने में सहायक बनो' है (परिशिष्ट 3 ब; उद्धरण 6.1)। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक आत्मा का कार्य सभी की सामान्य आध्यात्मिक उन्नति के लिये अन्य प्राणियों के साथ अन्योन्यक्रिया कर पारस्परिक हितों का साधन करना है। इस प्रकार यह स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 ब न केवल अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये प्रेरित करती है, अपितु यह साथ-साथ सभी को आध्यात्मिक प्रगति के लिये प्रेरित करती है। तथापि, इसका प्रथम उत्तरदायित्व अपने प्रति है (अर्थात् स्वयं से प्रीति करो) जिससे वह दूसरों के प्रति करुणा, अनुशंसा आदि प्रदर्शित करने में समर्थ हो जाती है। इस धारणा को निम्न उद्धरण में परिपुष्ट किया गया है :

"तुम स्वयं अपने ही उत्तम मित्र हो" (परिशिष्ट 3 ब, उद्धरण 6.2)

6.2 स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 ब के निहित अर्थ

उपरोक्त अवधारणा 4 ब का मुख्य बिन्दु यह है कि सभी प्राणी दुःख के प्रति संवेदनशील हैं और कोई भी प्राणी मृत्यु नहीं चाहता (परिशिष्ट 3 ब, उद्धरण 6.3)। यह बात सूक्ष्म जीवाणुओं या निगोदिया जीवों पर भी लागू होती है। तथापि, यह ध्यान में रखना चाहिये कि जीवन की धुरी (चित्र 3.1) पर स्थित किसी भी प्राणी को आहारादि के रूप में ग्रहण करना, अनिवार्य रूप से हिंसा को समाहित करता है। फलतः आदर्श रूप में हमें ऐसा नहीं करना चाहिये।

अपने जीवन की उत्तर-जीविता के लिये प्रत्येक प्राणी आहार ग्रहण करता है और, इस प्रकार वह कुछ जीवन की इकाइयों का उपभोग करता है। लेकिन इसका उद्देश्य यह है कि हम जीवन-इकाइयों की न्यूनतम संभावित संख्या का उपभोग करें। आध्यात्मिक विकास जितना ही कम होगा, उसमें जीवन-इकाइयों की संख्या उतनी ही कम होगी। सामान्यतः चित्र 3.1 के अनुसार, वनस्पति या पादप जगत की जीवन-इकाइयों का मान 10^{-3} है। इस कोटि की जीवन इकाइयों का उपभोग संतोषजनक माना जाता है। तथापि, यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि उच्चतः सांद्रित सूक्ष्म जीवाणुओं का, जहां तक बन सके उपभोग नहीं करना चाहिये क्योंकि उनमें जीवन-इकाइयों का मान, पादपों की तुलना में दस गुना अधिक अर्थात् 10^{-2} होता है। इस आधार पर न केवल शहद और शराब हमारे उपभोग की सीमा से बाहर हो जाते हैं, अपितु मृत जीवों का मांस भी छूट जाता है क्योंकि इसमें असंख्य सूक्ष्म जीवाणुओं की उत्पत्ति होती रहती है।¹ इस उपभोग में कुछ पौधों के ऊतक भी छूट जाते हैं जहां सूक्ष्म-जीवाणु उत्पन्न होते रहते हैं² (अंजीर और टमाटर इस कोटि के प्रतीकात्मक उदाहरण हैं)। वास्तव में तो, प्याज आदि का सेवन भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनकी जीवन-इकाइयों का मान भी 10^{-2} है। ये उदाहरण 'शरीर' के आधार पर हिंसा के अल्पीकरण प्रक्रिया के प्रतिनिधि हैं।

भावात्मक क्रियाओं के कारण अर्जित कर्म-पुद्गल प्राणी को केवल कुछ समय के लिये ही प्रभावित करते हैं। ये समय की सीमा-क्रिया की प्रकृति, कषाय की कोटि और उद्देश्य आदि पर निर्भर करती हैं। वास्तव में तो, मिथ्यात्व के कारण की गई हिंसा के सीमांत रूपों का प्रभाव युगों-युगों तक बना रहता है। इसके विपर्यास में किसी भी कषाय के प्रभाव में की गई हिंसा की क्रिया के प्रभाव की समय-सीमा इससे काफी कम होती है। तथापि, केवल एक-इंद्रिय के जीवन के नाश में नष्ट होने वाले कर्म-पुद्गलों की समय-सीमा पर्याप्त सीमित है।

क्रोध, मान, माया और लोभ की स्थिति में कार्मिक वियोजन या निर्जरा का न्यूनतम समय परम्परागत रूप से क्रमशः 2 माह, 1 माह, 15 दिन और एक अन्तर्मुहूर्त (< 48 मिनट) माना जाता है (ग्लेजनप, 1942)। उदाहरणार्थ, संभवतः, लोभ के कारण प्रेरित अहिंसा की क्रिया इतना वियोजन-समय लेती है। तथापि, कर्मों का अधिकतम वियोजन-समय चारों कषायों की दुर्बलता पर भी निर्भर करेगा। वास्तव में, अयोग (या स्थितिक) दशा में कर्म-पुद्गल अवशोषित ही नहीं होते, अतः केवल बंधे हुए कर्म-पुद्गल ही निर्झरित होते हैं।

सकारात्मक अहिंसा के पालन के लिये किसी भी भौतिक, मानसिक या वाचिक क्रिया में पूर्ण सावधानी आवश्यक है। महावीर ने अपने प्रमुख गणधर गौतम को दिये गये प्रवचनों में इसे व्यक्त किया है (देखियें, परिशिष्ट 3 ब, उद्धरण 6.4) :

“एक समय या क्षण के लिये भी प्रमाद मत करो।”

अहिंसा के पालन के लिए चार व्यावहारिक घटक बताये गये हैं :

1. मैत्री 2. करुणा 3. प्रमोद 4. माध्यस्थ वृत्ति:

एक अन्य उद्धरण (परिशिष्ट 3 ब, उद्धरण 6.5); में इन अंगों का अर्थ स्पष्ट किया गया है :

1. सभी प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना का विकास
2. दुःखी प्राणियों के प्रति करुणाभाव का विकास
3. पुण्य कार्य करने वाले प्राणियों के प्रति हर्ष-भाव का विकास
4. विपरीत मार्ग अपनाने वालों के प्रति समताभाव का विकास

गुरुदेव चित्रभानु ने इन विचारों को 'मैत्री भावनुं' नामक प्रेरक कविता के रूप में व्यक्त किया है जो अब जैनों की एक सुज्ञात प्रार्थना बन गई है। (उदाहरणार्थ, देखिये, मरडिया, 1992)। (श्री जुगल किशोर मुख्तार की लोकप्रिय 'मेरी भावना' भी इन्हीं विचारों का सार है (1981)। इसका अनेक भाषाओं में अनुवाद भी हो चुका है।)

इसकी अनुरूपता के लिये अहिंसा को हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये किसी मोटर के (जिसका सामर्थ्य उच्च होता है) परिचालन के समान मान सकते हैं। इसके लिये केवल यह आवश्यक नहीं है कि

1. मोटर को हम कैसे परिचालित करते हैं या
2. मोटर को किस मार्ग पर चलाया जाता है

लेकिन इस प्रक्रिया में प्रत्येक समय पर सावधानी बरतने की बात प्रमुखता से महत्त्वपूर्ण है। हम इस अनुरूपता के विषय में अध्याय 8 में और भी विवेचना करेंगे।

चित्र 6.2 में उन विविध परिस्थितियों को प्रदर्शित किया गया है जिनमें हम मन, वचन और काय से हिंसा और अहिंसा की अभिव्यक्ति करते हैं। यहां यह ध्यान दीजिये कि यहां चित्र 6.2(अ) हत्या को निरूपित करता है, चित्र 6.2 (ब) करुणा को, चित्र 6.2 (स) चरम वाचालता को और चित्र 6.2 (द) मैत्री को अभिव्यक्त करता है। चित्र 6.2 (य) में व्यक्ति किसी शत्रु के साथ लड़ने की सोच रहा है और चित्र 6.2 (र) में व्यक्ति किसी को (उदाहरणार्थ, शराबी को) समताभाव पूर्वक सहायता करने की बात सोच रहा है।

6.3 हिंसा का भाव-पक्ष

पूर्व-विवेचन में हमने इस बात का उल्लेख किया है कि हमारे विचार और कार्य हमारे साथ संलग्न होने वाले पुण्य या पाप कर्मों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। फलतः, हमें ऐसी क्रियायें नहीं करनी चाहिये जिनमें 'पूर्व-विचारित' (संकल्पित या संकल्पी) हिंसा समाहित हो। इसके विपर्यास में, हमें ऐसी क्रियाओं पर भी ध्यान देना चाहिये जो 'आरंभी या उद्योगी हिंसा' (घरेलू या आजीविका संबंधी हिंसा) का रूप लेती हैं। इस आधार पर जटिल शल्यक्रिया के समय रोगी की मृत्यु हो जाने पर भी डाक्टर को, हत्यारे की तुलना में, बहुत कम कर्म-बन्ध होता है। इसके अतिरिक्त, डाक्टर केवल लघु या पुण्यमय कर्म-पुद्गलों को ही संचित करता है (यदि वह अयोग्य न हो), जबकि हत्यारा सदैव सर्वाधिक पाप कर्मों का बन्ध करता है।³ खेती करने वाला किसान खेती करते समय केवल अनिच्छा से ही मिट्टी में विद्यमान (सूक्ष्म या स्थूल) कीड़ों को मारता है, लेकिन वह मंद पाप कर्म के पुद्गलों को ही अर्जित करता है। तथापि, कीटमार और मारक कीटमार पदार्थों से खेती में अनन्त जीवों की हत्या होती है। फलतः सामान्य रूप से, अहिंसा की धारणा हमें उन व्यवसायों तक सीमित कर देती है जिनमें 10^{-2} - जीवन इकाइयों से ऊपर के जीवों की संकल्पित हिंसा समाहित न हो। सीमांत या चरम दशाओं में आत्मरक्षा तक के लिये की जाने वाली हिंसा (रक्षक या विरोधी हिंसा) भी पाप कर्मों को ही अर्जित कराती है। इस प्रकार, हिंसा के चार रूप होते हैं : 1. आरम्भी, 2. उद्योगी (व्यवसाय), 3. रक्षक और विरोधी, और 4. संकल्पी। इनमें संकल्पी हिंसा सर्वाधिक पाप-कर्म अर्जित कराती है। अधिकांश व्यक्तियों के लिये इस प्रकार के कठोर हिंसक व्यवहारों की आवश्यकता नहीं होती। इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी द्वारा रायचंद्र भाई को लिखा गया प्रसिद्ध पत्र और उसका



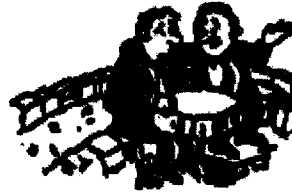
(अ)



(ब)



(स)



(द)



(य)



(र)

चित्र 6.2 शरीर [(अ),(ब)], वचन [(स),(द)], और मन [(य),(र)], के द्वारा क्रमशः होने वाली हिंसा और तदनुरूप सकारात्मक अहिंसा को प्रदर्शित करने वाली दशायें।

उत्तर अहिंसा की भावना पर अच्छा प्रकाश डालता है (देखिये, मरडिया, 1992 पेज, 13-14)। फिर भी, हमारा लक्ष्य यह होना चाहिये कि हम दो इंद्रिय या उससे उच्चतर इंद्रियों वाले जीवों की न तो स्वयं हिंसा करें और न दूसरों को करने के लिये प्रेरित करें।

6.4 जैन विश्वीय काल-चक्र (JTC) या व्यवहार काल-चक्र

जैनों का यह विश्वास है कि यह विश्व सान्त या सीमित है और इसमें विविध प्रकार का जीवन, यहां तक कि मनुष्य जीवन भी पाया जाता है। इसमें अनेक जगत होते हैं जिनसे (तीन - अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक एवं चार- नरक, तिर्यच, मनुष्य तथा देवलोक होते हैं) प्रत्येक अधिष्ठित जगत में चक्रों की अनन्त श्रेणियां चलती रहती हैं। इनमें आधी उत्सर्पिणी (प्रगतिमान) और आधी अवसर्पिणी (अवनतिमान) श्रेणियां होती हैं। लेकिन इन श्रेणियों के रूप भिन्न-भिन्न होते हैं जिनके कारण जगत में कहीं न कहीं (यदि भरत क्षेत्र में नहीं, तो विदेह क्षेत्र में) एक जीवित तीर्थंकर अवश्य होता है। इनमें से प्रत्येक अर्धचक्र छह-छह काल खंडों (आरे) में विभाजित होते हैं। यहां हम सुख को 'सु' (या h-happy) और दुःख को 'दु' (या m-misery) के संकेतों से व्यक्त करेंगे।

अवनतिमान अर्ध काल-चक्र के लिये निम्न क्रमवर्ती काल-खंड होते हैं :

1. सुषमा-सुषमा या अति-आनंदकाल, सुसुसु या hhh
2. सुषमा या आनंदकाल, सुसु या hh
3. सुषमा-दुषमा (दुःख की अपेक्षा आनंद अधिक) सुसुदु, या hhm
4. दुषमा-सुषमा (आनंद की अपेक्षा अधिक दुःख) सुदुदु या hmm
5. दुषमा (दुःख) दुदु या mm
6. दुषमा-दुषमा (अति-दुःखकाल), दुदुदु, या mmm

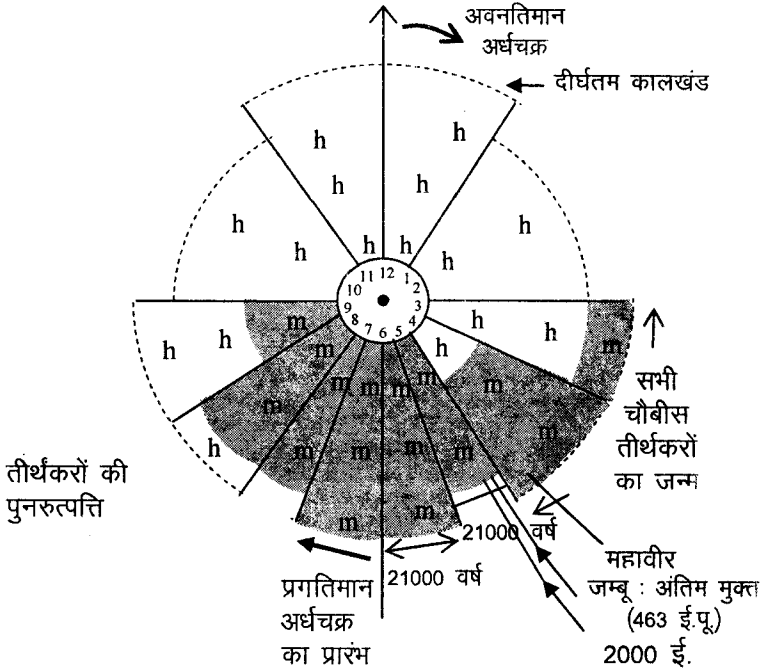
इस अर्ध अवनतिमान छह काल-खण्डों के बाद प्रगतिमान छह काल-खण्ड आते हैं जिनके क्रमवर्ती नाम निम्न हैं:

7. दुषमा-दुषमा (अति-दुःखकाल), दुदुदु, mmm
8. दुषमा (दुःख) दुदु, mm
9. दुषमा-सुषमा (आनंद की अपेक्षा अधिक दुःख) सुदुदु, hmm
10. सुषमा-दुषमा (दुःख की अपेक्षा अधिक सुख), सुसुदु, hhm
11. सुषमा (सुख), सुसु या hh
12. सुषमा-सुषमा (अति-सुख), सुसुसु, hhh

यहां यह ध्यान दीजिये कि कालखण्ड 1. और 12. तथा कालखण्ड 2 और 11 आदि समान हैं। इन काल-चक्रों को चित्र 6.3 में प्रदर्शित किया गया है और वहां प्रत्येक काल-खण्ड में सुख और दुःख के क्षेत्र बताये गये हैं जो उपरोक्त धारणाओं का निदर्शन करते हैं। इस प्रकार, एक पूर्णचक्र में 12 काल-खण्ड होते हैं जो निम्न हैं :

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12
सुसुसु सुसु सुसुदु सुदुदु दुदु दुदुदु दुदुदु दुदु सुदुदु सुसुदु सुसु सुसुसु।

हम इस पूरे काल-चक्र को एक जैन काल चक्र, (JTC) कहते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न बिंदुओं पर ध्यान दीजिये :



चित्र 6.3 जैन विश्व में प्रवाहमान एक पूर्ण काल-चक्र (घड़ी की दिशा में) और सुख-दुःख के स्तर को प्रदर्शित करनेवाला रेखाचित्र (छायित क्षेत्र में h. (सुख), m. (दुःख))। यहां भग्न चाप (arc) दीर्घ काल को व्यक्त करता है। अवनतिमान अर्ध काल-चक्र बिंदु P से प्रारंभ होता है।

1. चित्र 6.3 में समय घड़ी के कांटों की दिशा में प्रवाहमान होता है।
2. प्रत्येक काल-खण्ड की स्थिति पर्याप्त वृहत् होती हैं। इसका लघुतर यूनिट सागरोपम कहलाता है जो 5×10^{17} जैन काल चक्र (JTC) के बराबर है। सामान्यतः, सागरोपम एक कोडाकोडी पल्योपम P के बराबर होता है एवं पल्योपम के मान लगभग $4.13 \times 10^{36-45}$ के बीच परिवर्ती होते हैं (देखिये, जैन, 1996 पेज 290)। फलतः,

$$1 \text{ सागरोपम} \cong 10^{15} \text{ P} \\ \cong 4.13 \times 10^{51-60} \text{ वर्ष}$$

अतः यह समय की एक दीर्घ इकाई है। हमने यहां इसका संक्षिप्त मान ही दिया है। इस यूनिट में ही, जैसा कि हमने पहले बताया है, विभिन्न कर्म-घटकों की स्थिति भी मापी जाती है।

3. ऐसा विश्वास किया जाता है कि काल खण्डों 5, 6, 7, एवं 8 में प्रत्येक की स्थिति 21000 वर्ष है। इसके विपर्यास में, अन्य खंडों की स्थिति का मान वृहत्तर होता है, पर वह अनन्त नहीं होता है। इसलिये इन्हें भग्न रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है।
4. प्रगतिमान काल-खण्डों में प्राणियों के शरीर, सामर्थ्य एवं आध्यात्मिक प्रगति निरंतर वर्धमान होते हैं। इसके विपर्यास में, अवनतिमान कालखण्डों में ये सभी गुण क्रमशः हीयमान, हासमान या घटते जाते हैं।

ये कालखण्ड और अर्ध काल-चक्र एक-दूसरे का अनुसरण करते हुए अविरत रूप से एवं एक समान रीति से चलते रहते हैं। असंख्यात कालचक्रों के मध्य कभी-कभी एक हुंडावसर्पिणी (अचरजकारी घटनाओं वाला) कालचक्र भी प्रवाहित होता है। इस समय हम लोग 2001 में इसी अवनतिमान कालचक्र के पांचवे खंड के 2597 वें वर्ष में चल रहे हैं।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि किसी भी व्यक्ति के तीर्थंकर/पूर्ण ज्ञानी/सर्वज्ञ बनने की संभावना केवल 3, 4 एवं 9, 10 वें काल-खण्डों में ही हो सकती है। वर्तमान अवनतिमान अर्ध काल-चक्र के चौबीस तीर्थंकर तीसरे (सुसुदु) एवं चौथे (सुदुदु) कालखण्ड में ही हुए थे। सुख और दुःख के ये आनुपातिक संयोग आत्म-साक्षात्कार के मार्ग के लिये आवश्यक है और पर्याप्त हैं। इस समय (2001 में) हम लोग 21000 वर्ष के पांचवें खंड के 2597 वें वर्ष में रह रहे हैं। फलतः इस पृथ्वी पर नयी तीर्थंकर श्रृंखला के जन्म के लिये बहुत समय लगेगा। तथापि, आध्यात्मिक विकास के उच्चतर चरण में पहुंचे हुये व्यक्ति जगत के दूसरे भागों में विद्यमान तीर्थंकरों से सम्पर्क कर सकते हैं, क्योंकि विश्व के किसी न किसी भाग में कम से कम एक तीर्थंकर सदैव रहते हैं।⁴

जम्बू स्वामी महावीर के गणधर सुधर्मा स्वामी के शिष्य थे (देखिये, परिशिष्ट 2)। ऐसा माना जाता है कि वर्तमान काल-खण्ड में वे अंतिम व्यक्ति थे जो सर्वज्ञ हुए और संभवतः 463 ई. पू. में मोक्ष (कर्म-मुक्ति) गये। 'कल्पसूत्र' नामक पवित्र ग्रंथ की गाथा 146 के अनुसार, उनके बाद भरत क्षेत्र में न कोई सर्वज्ञ होगा और न ही मोक्षपद प्राप्त करेगा। जेकोबी (1884, पेज 269) ने इस गाथा को कतिपय प्रत्यक्ष कारणों से 'अंधकारमय' निरूपित किया है।

6.5 पारिभाषिक शब्दावली

I	हिंसा	: Violence	: मन, वचन, काय से स्वयं को या अन्य को कष्ट पहुँचाना
	अहिंसा	: Non-Violence	: हिंसा का विपर्यय, स्नेह, प्रीति,
	संकल्पी हिंसा	: Pre-meditated Violence	: इच्छापूर्वक/पूर्व विचारित हिंसा
	आरंभजा/ उद्योगी हिंसा	: Domestic/ Occupational Violence	: गृहस्थी के सामान्य कार्यों में तथा आजीविका के कार्यों में होनेवाली हिंसा
	विरोधी हिंसा/ आत्म- रक्षार्थ हिंसा	: Defencesive Violence	: आपातकाल/युद्ध के समय स्वयं या देश की रक्षा के लिये की जाने वाली हिंसा
II	काल-चक्र		
	उत्सर्पिणी अर्ध काल-चक्र	: Progressive half-cycle	: प्रगतिमान अर्ध काल-चक्र
	अवसर्पिणी अर्ध काल-चक्र	: Regressive half-cycle	: अवनतिमान अर्ध काल-चक्र
	सुषमा	: Happy	: सुखयुक्त काल-चक्र
	दुषमा	: Missary/ unhappy	: दुःखयुक्त काल-चक्र

टिप्पणियां

1. पी. एस. जैनी, पेज 169

“— मृत प्राणियों का मांस भी असंख्य सूक्ष्म जीवाणुओं के जन्म में सहायक होता है और इसलिये इसे आहार आदि के काम में नहीं ही लेना चाहिये।

2. पी. एस. जैनी, पेज 168

जहां किण्वन या मधुरता रहती है, वहां निगोद के समान सूक्ष्म जीवाणु, अनिवार्य रूप से रहते हैं। इसलिये शराब या शहद के उपयोग से इस कोटि के लाखों मूक प्राणियों का असामयिक एवं क्रूर अन्त होता है। कुछ पौधों के ऊतक विशेषतः मीठे, गूदेदार और बहु-बीजक कोटि के फल भी निगोदों के जन्म के लिये सहायक होते हैं। इस कोटि के पौधों को साधारण वनस्पति कहते हैं (अर्थात् वे वनस्पति जिनका शरीर सह-भागी होता है)। अंजीर के समान उदुंबर कोटि के फलों के त्याग को मूलगुणों के रूप में रखने का उद्देश्य समस्त प्रकार के निगोद-युक्त वनस्पतियाँ या फलों के त्याग का प्रतीक प्रतीत होता है।

3. पी. एस. जैनी; पेज 171

उदाहरणार्थ, एक हत्यारा पहले से ही अपने शिकार को मारने की बात सोचता है। इसलिये वह संकल्पी हिंसा करता है। इसके विपरीत, डाक्टर जटिल शल्य क्रियाओं में रोगी को पीड़ा या यहां तक कि मृत्यु के मुख में भी पहुंचाते हैं, लेकिन वे केवल आरंभजा (या उद्योगी ?) हिंसा (जो बहुत गंभीर नहीं मानी जाती) के ही दोषी माने जाते हैं।

4. पी. एस. जैनी; पेज 32

प्रत्येक समय विश्व के किसी न किसी भाग में कहीं न कहीं एक जीवित तीर्थंकर अवश्य होता है। इसका अर्थ यह है कि मुक्ति का मार्ग प्रत्येक समय खुला रहता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि यदि मनुष्य अपनी मुक्ति के तात्कालिक अवसर का आकांक्षी है, तो उसे किसी न किसी विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होना आवश्यक है।

अध्याय 7

आत्म-विजय का मार्ग (स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 स)

स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 स तप का अभ्यास न केवल नये कर्मन कर्णों या कर्म-पुद्गलों के आस्रव के लिये कार्मिक-सुरक्षा-कवच बनाता है, अपितु यह पूर्वार्जित कर्म-पुद्गलों की निर्जरण प्रक्रिया में भी योगदान करता है।

7.1 स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 स

पूर्व-वर्णित स्वतःसिद्ध अवधारणाओं - 4 अ, एवं 4 ब से हमें यह ज्ञात है कि कर्मन-कण आत्मा में कैसे आस्रवित होते हैं। फिर भी, अध्याय 6 से यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक विकास के दो प्रमुख उद्देश्य हैं :
1. कर्म-कवच (संवर) के द्वारा नये कर्मन-कणों के आस्रव को रोकना तथा
2. पूर्व-अर्जित कर्म-पुद्गलों का पूर्णतः निःसरण या निर्जरण। यदि ये उद्देश्य पूर्ण होते हैं, तो आत्मा अपनी शुद्ध अवस्था को प्राप्त करेगा और उसके सभी चारों कोटियों- अनंत वीर्य, अनंत सुख, अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन- के सामर्थ्य अभिव्यक्त होंगे। इन कोटियों का विवरण अध्याय 2 में दिया गया है।

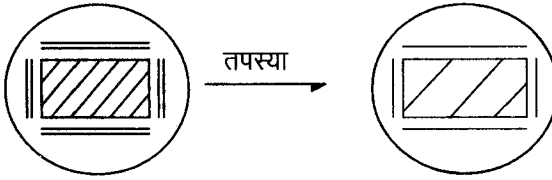
ऐसा विश्वास किया जाता है कि आत्मा का पूर्ण सामर्थ्य केवल तभी व्यक्त हो सकता है जब मन, वचन और काय की भावात्मक क्रियाओं के अनुरूप होने वाले कर्म-पुद्गलों के बंध और प्रभाव को पूर्णतः दूर कर दिया जाय। जैसा कि हमने पूर्व के वर्णन में देखा है कि उपरोक्त सभी क्रियायें बाह्य हैं जो कर्म-क्षेत्र में अविरत-रूप से, न्यूक्लीय अभिकारकों में होने वाली क्रियाओं के समान, अंतरंग क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को जन्म देती रहती हैं। इसके साथ ही, आत्मा के साथ एक संगणित (कार्मिक कंप्यूटर) भी संलग्नित होता है जो इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं का तत्कालीन अभिलेख रखता है और उचित समय पर उनके संबंध में निर्देश भी देता रहता है।

अब यहां प्रश्न यह है कि

1. प्राणी कर्म-पुद्गलों को कैसे वियोजित या निर्जरित कर सकता है, और
2. नये कर्म-बंध को कैसे संवरित कर सकता है या रोक सकता है ?

तार्किक रूप से, मानव की अपने निम्न स्तर के स्वभाव की दासता उसके साथ बंधे हुए कर्म-पुद्गलों का प्रभाव ही मानना चाहिये क्योंकि यह दासता ही आत्मा के पूर्ण सामर्थ्य की अभिव्यक्ति को अवरुद्ध करती है। व्यक्तिगत कर्मों के आस्रव व बंध को रोकने के लिये केवल तपस्या या संयम

के कुछ रूप ही समर्थ हैं। इसका अर्थ यह है कि तपस्या (या संयम) ही केवल ऐसा मार्ग है जिससे प्राणी अपनी भौतिक प्रकृति एवं मनोवृत्ति के दबाव क्षेत्र से बाहर जाकर अंतःशोधन की ओर बढ़ सकता है। ये बाह्य प्रवृत्तियां कर्म-क्षेत्र के अविरत प्रभाव में रहती हैं। (देखिये, चित्र 7.1)। साथ ही, यह अवधारणा 4 स यह भी निर्दिष्ट करती है कि तपस्या पूर्वोक्त अवधारणा 4 अ में वर्णित कर्म-बंध के पांच प्रकार के कारकों - मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - को निराकृत करती है।



चित्र 7.1 तपस्या के कारण कर्म-बल कवच (चक्र) और कर्म- निर्झरण, (अल्प विकर्णी रेखायें)

तपस्या या संयम के द्वारा बंध के कारकों का क्रमिक विलोपन चौदह गुणस्थानों (आत्म-शुद्धि के चौदह चरणों) के रूप में निदर्शित किया गया है। इनका विवरण आगे दिया गया है।

हमें 'तपस्याओं' को व्यापक संदर्भ में समझना चाहिये। ये अत्यंत सावधानी के साथ इंद्रियों पर नियंत्रण की प्रतीक हैं और सकारात्मक अहिंसा को पुरोभाग में रखती हैं अर्थात् "अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करो" (परिशिष्ट 3 ब उद्धरण 7.1)। इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति को अपनी क्षमता की सीमा से परे तपस्याओं का अभ्यास नहीं करना चाहिये जिससे स्वयं को कष्ट हो। इसे स्वपीडन-रति के रूप में समझने की भ्रांति नहीं पालनी चाहिये।

7.2 आत्म-शोधन की धुरी और आत्म-शोधन के चरण : गुणस्थान

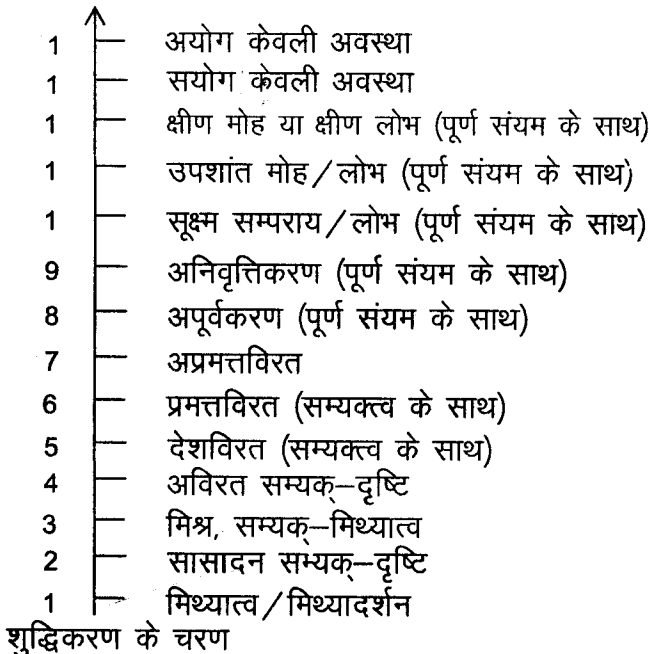
हमने अध्याय 3 में जीवन की धुरी का परिचय पहले ही दे दिया है। अब हम इस धुरी के उच्चतर खंड पर विचार करेंगे जो मानव प्राणियों से सम्बन्धित है। ये मानव-प्राणी जीवन के अन्य रूपों से आध्यात्मिकतः उच्चतर कोटि में आते हैं। चित्र 7.2 में ऐसे मनुष्यों की उन जीवन कोटियों को दर्शाया गया है जिनके जीवन-इकाई के मान निम्नतर के मानों से उच्चतर मानों तक परिवर्ती होते हैं (अर्थात् 10^1 से लेकर 10^{∞} तक, देखियें चित्र 3.1 व 3.2) अर्थात् जिनमें कर्म-पुद्गलों का घनत्व उच्चतम से लेकर न्यूनतम मान तक, परिवर्ती होता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि हमने चित्र 3.1 की जीवन-धुरी के ऊपरी भाग को चित्र 7.2 में

विस्तारित किया है। इस विस्तार को आध्यात्मिक विकास की सीढ़ी कहा जाता है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति को, जैसे-जैसे वह उच्चतम कार्मिक घनत्व से निम्नतम कार्मिक घनत्व की ओर जाने के लिये प्रयास करता है, और अंत में मोक्ष प्राप्त करता है, अवश्य चढ़नी होगी।

इस सीढ़ी में चौदह चरण होते हैं जो आध्यात्मिक शुद्धिकरण के चरण हैं। हम इन चरणों को चौदह शुद्धिकरण चरण या गुणस्थान कहेंगे। इस सीढ़ी के चरण जितने ही उच्चतर होंगे, आध्यात्मिक शुद्धिकरण या जैनत्व की कोटि भी उतनी ही उच्चतर होगी और कर्म-पुद्गलों का घनत्व उतना ही कम होगा, अर्थात् गुणस्थानों की संख्या, आध्यात्मिक विकास के अनुपात में होती है :

	गुणस्थान की संख्या	\propto आध्यात्मिक विकास
और,	आध्यात्मिक विकास	\propto 1/कार्मिक घनत्व
और,	कार्मिक घनत्व	\propto पापकर्म

चित्र 7.2 में शुद्धिकरण की धुरी पर इन गुणस्थानों के नाम दिये गये हैं। इस धुरी का प्रथम बिंदु आध्यात्मिक शुद्धिकरण का प्रथम चरण है जिस



चित्र 7.2 चौदह चरणों के साथ शुद्धिकरण की धुरी

पर प्रारम्भ में सभी प्राणी होते हैं। इस चरण पर सभी प्राणियों और मनुष्यों में भी कर्म-पुद्गलों का घनत्व उच्चतम होता है। यह घनत्व उच्चतर चरणों पर जाते-जाते कम होता जाता है और चौदहवें चरण पर शून्य हो जाता है। इस प्रकार, इस स्थिति के विपर्यास या व्युत्क्रम में, हम यह मान सकते हैं कि शुद्धिकरण धुरी कार्मिक घनत्व की धुरी के समान है जिसमें चौदह बिंदु होते हैं और यह धुरी अविरत बनी रहती है (यह धुरी शुद्धिकरण-धुरी से विपरीत दिशा में होगी)।

कार्मिक वियोजन की गतिशील प्रक्रिया को समझने के लिये यह ध्यान में रखना चाहिये कि जैसे-जैसे कर्मों की निर्जरा (या वियोजन) होती है, सशरीरी आत्मा की आन्तरिक शक्ति वर्धमान होती है जो आध्यात्मिक विकास की गति की उत्तरोत्तर वृद्धि में सहायक होती है। इस स्थिति में यह भी माना जाता है कि आगे बढ़ने पर कर्मों का आस्रव अवरुद्ध हो जाता है और इससे आत्मा के वीर्य और ज्ञान के घटकों का आवरण मुक्त होता है जिससे आत्मा अपने स्वरूप के अन्वेषण में संलग्न होती है। इस दिशा में एक अन्य ध्यान देने योग्य बात यह है कि कर्म-पुद्गलों का प्रभाव सर्वप्रथम तो पूर्णतः विलोपित होने के बदले केवल प्रायः दमित होता है। इसके साथ ही, उत्तरोत्तर चरणों में कर्मों का बंध पर्याप्त सीमित होता जाता है और पुराने कर्मों की मात्रा (वियोजन के कारण) कम होती जाती है। यही नहीं, प्रायः सभी उत्तरवर्ती चरणों में चारों कषायों - क्रोध, मान, माया एवं लोभ की कोटि क्रमशः दुर्बल होती जाती है। इन चारों कषायों की पांच कोटियों को अध्याय 5 में विवेचित किया जा चुका है। लेकिन हमारा समग्र उद्देश्य यह है कि हम स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 अ में दिये गये कर्म-बंध के पांचों कारकों को जड़ से उन्मूलित करें।

7.3 पहले चार चरण : पहले चार गुणस्थान

चित्र 7.2 में दिये गये पहले चार गुणस्थान क्रमशः निम्न हैं :

1. मिथ्या दर्शन (वस्तु तत्त्व के विषय में विपरीत या भ्रांत दृष्टिकोण)
2. सासादन (वस्तु-तत्त्व के विषय में अस्पष्ट अभ्रांत दृष्टिकोण)
3. मिश्र/सम्यक्-मिथ्यात्व (भ्रांत एवं अभ्रांत दृष्टिकोणों का मिश्रण)
4. अविरत-सम्यक्-दृष्टि (असंयत एवं प्रबुद्ध दृष्टिकोण)

7.3.1 प्रथम चार चरणों की परिभाषा और आंतरिक गति

उपरोक्त सीढ़ी (चित्र 7.2) का पहला चरण सभी जीवों में पाया जाता है। यह चरण वस्तुतत्त्व के विषय में भ्रांत या मिथ्या दृष्टिकोण या मिथ्या दर्शन कहलाता है। प्रारम्भ में, प्रत्येक जीव पूर्ण अज्ञान के इस चरण में होता है अर्थात् इस चरण में उसके चारों कषायों की कोटि अधिकतम या

उच्चतम रहती है। लेकिन, स्वतःसिद्ध अवधारणा प्रथम के अनुसार, प्रत्येक आत्मा कर्म-बंध के कारण आवरित अपने चारों घटकों को मुक्त कराना चाहता है। यह प्रक्रिया दो प्रकार से आरम्भ की जा सकती है :

1. आंतरिक अनुभूति : जैसे पूर्व जन्मों का स्मरण
2. बाह्य अनुभूति : जैसे जैन उपदेशों का सुनना ¹

प्रथम चरण से अगले दो चरणों (दूसरे और तीसरे गुणस्थान) से पार होते समय एवं चौथे चरण की ओर बढ़ते समय एक चमक प्रकट होती है। यह चौथा चरण अविरत-सम्यक्-दृष्टि का है। इस चरण में जीवन और आत्म-तत्त्व की प्रकृति पूर्णतः उदघाटित होती हैं अर्थात् सम्यक्-दर्शन प्राप्त होता है।

सम्यक्-दर्शन की यह प्रथम अनुभूति कुछ ही क्षण रहती है और यह दर्शन मोहनीय-कर्म के क्षय से नहीं, अपितु उपशमन से उदय से आती है। यह उपशमित घटक शीघ्र ही अनुपशमित हो जाता है और पुनः अपना प्रभाव प्रदर्शित करता है। फलतः, आत्मा पुनः समस्त कर्म-बंध के कारकों-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, एवं योग के प्रबल प्रचालन के साथ पुनः मिथ्यात्व गुणस्थान में प्रत्यावर्तित हो जाता है। तथापि, इस अवपतन के समय, आत्मा कुछ समय के लिये तीसरे शुद्धिकरण-चरण से पार होता है जहां स्थूल कषायें तो उपशमित अवस्था में रहती हैं लेकिन वहां सम्यक्त्व/सम्यक्-दर्शन/प्रबुद्ध दृष्टिकोण नहीं रहता। इस चरण को प्रबुद्ध एवं भ्रांत दृष्टिकोण के मिश्रण (सम्यक्-मिथ्यात्व) का चरण कहते हैं। इसका पूर्ववर्ती चरण द्वितीय चरण-सासादन गुणस्थान है। यह अस्पष्ट अभ्रांत या अप्रबुद्ध दृष्टिकोण है। यहां कषायों की चौथी कोटि दृढ़तापूर्वक अपना प्रभाव प्रदर्शित करती है और तत्काल ही आत्मा को पुनः प्रथम चरण में अवपतित कर देती है। चौथे चरण के इस पहले संक्रमण में, दर्शन मोहनीय-कर्म का केवल उपशम ही होता है, लेकिन इसके उत्तरवर्ती संक्रमण की स्थिति अधिक होती है और इसमें इस घटक का आंशिक विलोपन भी होता है। इस प्रकार के आंशिक उपशमन एवं विलोपनकारी अनेक संक्रमणों के बाद, आत्मा चतुर्थ चरण में दृढ़ता से स्थिर हो जाता है और वह पांचवें और आगे के चरणों की ओर बढ़ने लगता है जैसा कि आगे बताया गया है। सारणी 7.1 में इन चारों चरणों का संक्षेपण दिया गया है :

सारणी 7.1 प्रथम चार गुणस्थानों की सूची एवं उनका (भावात्मक) स्तर

चरण	नाम	स्तर
1.	मिथ्यात्व (भ्रांत दृष्टिकोण)	भ्रांत या मिथ्यात्व की दशा
2.	सासादन	अस्पष्ट दृष्टिकोण
3.	मिश्र	भ्रांत तथा अभ्रांत दृष्टिकोण
4.	अविरत सम्यक्-दृष्टि	असंयत दृष्टिकोण, शुद्धिकरण की ओर प्रथम चरण

7.3.2. चतुर्थ गुणस्थान का चरण और दृश्य संकेत

चौथे गुणस्थान में भ्रांत दृष्टिकोण दूर हो जाता है और समता का भाव प्रकट होता है। इस प्रकार की शुद्धि के कारण ही इस चरण में सत्य दृष्टि (सम्यक्त्व) की चमक प्रकट होती है। इस चरण में चारों कषायों की चौथी कोटि के अपनयन से आत्मा के वीर्य एवं ज्ञान घटकों की वृद्धि होती है जिससे वह सम्यक्-ज्ञान के अन्वेषण की ओर पहले की अपेक्षा अधिक प्रबलता से संलग्न होता है। इसके साथ ही, इस चरण में :

1. अपने शरीर तक को निर्मित करने वाले कर्म-पुद्गलों की अभिव्यक्ति या उनके उदय को कम महत्त्व मिलने लगता है।
2. चार कषायों के कारण उत्पन्न मनोवैज्ञानिक दशाओं का महत्त्व कम होने लगता है।
3. व्यक्तिगत परिग्रहों का महत्त्व भी कम होने लगता है जिन्हें वह अपनी पहचान मानता था।² इसके फलस्वरूप आत्मा शांत दशा को प्राप्त करता है।

दृष्टिकोण और अन्तरात्मा

चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा की शांतदशा से "मैं कौन हूँ" के समान प्रश्नों के समाधान के लिये प्रेरणा मिलती है। यह दृष्टिकोण आत्मा के (अंतर) दर्शन घटक को वीर्य घटक के प्रभाव से और भी बलवान बनाता है जिसका अनुभव इसके पहले कभी नहीं हुआ था। इस दशा में और कर्म-पुद्गल अपनयित हो जाते हैं। इस दशा में स्थिर सम्यक्त्व की प्राप्ति और भी सम्भव हो जाती है। व्यक्ति पूर्ववर्ती तीनों अवधारणाओं की सत्यता के प्रति जागरूक हो जाता है। इस प्रकार, कर्म बलों के प्रभाव को अपनयित करने का उद्देश्य स्पष्ट होता है जिससे आत्मा के वीर्य घटक में और भी वृद्धि होती है। इस चरण में सम्यक्त्व के बाधक सभी कारक अपना प्रभाव

प्रदर्शित नहीं कर पाते और आत्मा वस्तु तत्त्व के प्रति सही एवं स्थायी दृष्टिकोण की अनुभूति करने लगता है।

चारों कषायों के तीसरी कोटि तक सीमित होने से उत्पन्न प्रबुद्ध दृष्टिकोण का अंतरंग संकेत आंतरिक परिवर्तन का प्रतीक है। इस स्थिति में आत्मा के ध्यान की दिशा पुनर्गठित होती है जिसका केन्द्रबिन्दु आत्मा के स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं होता। इस प्रकार, इस स्थिति में 'मैं' के बदले 'वास्तविक अन्तरात्मा' के साथ एकाकारता होने लगती है और उसके सुख-घटक की तीव्र अनुभूति भी होने लगती है।

व्यवहार और सकारात्मक अहिंसा³

जब आत्मा स्वयं में शांति का अनुभव करने लगता है, तब उसका व्यवहार भी उन्नत और शांत होने लगता है। इस स्थिति में व्यक्ति सभी प्राणियों में विद्यमान मूलभूत समानता के प्रति जागरूक हो जाता है और यह अनुभूति दुःखी प्राणियों के प्रति मैत्री एवं करुणा की भावना को जन्म देती है। यह करुणाभाव दया और व्यक्तिगत बंधनों से मुक्त होता है। इस अनुभूति के कारण, आत्मा इस तथ्य को जानने लगता है कि सभी प्राणी मोक्ष के अधिकारी होते हैं। इससे अब दूसरे प्राणियों को समताभाव के साथ मुक्ति को प्राप्त करने में निःस्वार्थ मार्गदर्शन की भावना उत्पन्न होती है। सकारात्मक अहिंसा विनाशक और शोषक व्यवहार की पहिचान कराती है। सकारात्मक अहिंसा का यह पक्ष स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 ब का व्यावहारिक उपयोग है।

चार कषायों का प्रभाव

चौथे चरण को प्राप्त करने के लिये, तपस्या करने की बात स्पष्टतः कहीं भी नहीं बताई गई है, लेकिन अंतर्निहित रूप से यह माना जाता है कि तपस्या का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि चौथे चरण में कषायों की कोटि को तीसरी कोटि तक सीमित करना चाहिये। यह संयम के बिना नहीं हो सकता। वैसे भी, अहिंसा का पालन बिना आत्म-संयम के नहीं हो सकता।

इस स्तर पर जो प्रथम आत्म-जागरण होता है, उससे कुछ कार्मन-कणों का अपनयन होता है जिससे व्यक्ति संयम या आत्मनियंत्रण की मध्यम कोटि में आ जाता है अर्थात्, व्यक्ति न तो क्रोध के आवेश में जाता है, न जटिल माया के प्रपंच में फँसता है, न अध अभिमानी होता है और न ही लोभ आदि के आवेश में आता है। इसके साथ ही, चौथे गुणस्थान की पूर्णता होने पर व्यक्ति में अधिक सहिष्णुता, अल्प क्रोध, अधिक विनम्रता, अल्प अभिमान, अधिक सरलता और अल्प छल-प्रपंच, अधिक संतोष और अल्प लोभ के प्रत्यक्ष प्रमाण मिलने लगते हैं।

7.4. पाँचवे गुणस्थान से ग्यारहवां गुणस्थान

जैसा खंड 7.3 में बताया गया है कि जब मिथ्यात्व सम्यक्त्व के रूप में प्रतिस्थापित होता है, तब व्यक्ति चौथे गुणस्थान में और उसके ऊपर चला जाता है। पाँचवे गुणस्थान में व्यक्ति उच्चतर संयम की कोटि की ओर बढ़ना प्रारंभ करता है अर्थात् वह विभिन्न प्रकार के व्रतों (प्रतिज्ञापूर्वक स्वीकृत किये गये नियमों) का पालन करता है जो आंशिक संयम को जन्म देते हैं। छठवें गुणस्थान में पूर्ण संयम का पालन होता है।

पाँचवां गुणस्थान सामान्य मनुष्य की जीवन-पद्धति के समकक्ष होता है, जबकि छठा गुणस्थान साधु के मार्ग के अनुसरण के अनुरूप होता है। छठे गुणस्थान में, अर्थात् पूर्ण संयम के स्तर पर, पूर्ण नियंत्रण और उच्चतर व्रतों का पालन किया जाता है। ये विभिन्न चरण कैसे प्राप्त होते हैं, यह अध्याय 8 में विवेचित किया गया है।

सातवें गुणस्थान में, प्रमाद शून्य हो जाता है। इसका निहितार्थ यह है कि यहां क्रोध शून्य हो जाता है। इसीलिये इस चरण को 'अप्रमत्त संयत' कहते हैं। फिर भी, यहां चारों कषायों का किञ्चित् अस्तित्व तो बना ही रहता है। आठवें, नवें और दसवें गुणस्थान में, व्यक्ति ध्यान के माध्यम से मान, माया और लोभ की कोटि को शून्य करने का प्रयत्न करता है। ध्यान के माध्यम से विकसित आठवें, नवें और दसवें गुणस्थानों के नाम क्रमशः निम्न हैं :

8. अपूर्वकरण, पूर्ण संयम के साथ
9. अनिवृत्ति/समान करण, पूर्ण संयम के साथ
- 10 सूक्ष्म सम्पराय/कषाय, पूर्ण संयम के साथ

सारणी 7.2 में इन गुणस्थानों का संक्षेपण किया गया है।

जब इन गुणस्थानों में चारों कषायें क्षीण होने के बदले उपशमित होती हैं, तो व्यक्ति केवल ग्यारहवें गुणस्थान में उपशांत कषाय के साथ पूर्ण संयम पर पहुंचता है। तथापि, यहां लोभ की उपशमित अवस्था में, व्यक्ति के नीचे (के गुणस्थानों) की ओर जाने की संभावना रहती है। लेकिन यदि ध्यान के प्रभाव से चारों कषाय पूर्णतः क्षीण या निरस्त हो जाती हैं और लोभ की कोटि स्थायी रूप से शून्य हो जाती है, तो व्यक्ति दसवें गुणस्थान से सीधे ही बारहवें गुणस्थान पर जा पहुंचता है। इसका नाम है "क्षीण (लोभ) कषाय (पूर्ण संयम के साथ) की अवस्था।"

सारणी 7.2 पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थानों की सूची और उनके अनुरूप भावात्मक स्तर

चरण	नाम	स्तर
5.	प्रबुद्ध दृष्टिकोण के साथ, देशविरत	सच्चा जैन श्रावक
6.	प्रबुद्ध दृष्टिकोण (सम्यक्त्व) के साथ, प्रमत्तविरत	(जैन) साधु
7.	अप्रमत्त-विरत	आध्यात्मिक गुरु, उपाध्याय
8.	पूर्ण-संयम के साथ, अपूर्वकरण	आध्यात्मिक आचार्य
9.	पूर्ण-संयम के साथ, समान-मृदु-करण भाव	प्रगत आचार्य
10.	पूर्ण-संयम के साथ, सूक्ष्म-सम्पराय (लोभ)	
11.	पूर्ण-संयम के साथ, उपशांत कषाय	कषायरहित अवस्था

7.5. बारहवें से चौदहवां गुणस्थान (शुद्धिकरण के चरण)

बारहवें गुणस्थान पर पहुंचने पर (मोहनीय कर्म के अतिरिक्त) तीन प्राथमिक या घातिया कर्म-घटक (ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म) स्वयं ही आत्मा से वियोजित हो जाते हैं जिससे आत्मा तेरहवें गुणस्थान पर आ जाता है जिसे अनंत ज्ञान या सर्वज्ञ की अवस्था कहते हैं। तेरहवें गुणस्थान का नाम है - क्रियाशील सर्वज्ञ या सयोगकेवली।

इस गुणस्थान में कषायों के विनाश से केवल योग का कारक ही आत्मा की अवशिष्ट क्रियाओं का नियंत्रण करता है जो भौतिक शरीर के चलते रहने में अभी भी आवश्यक है। तथापि, ये क्रियायें नये कर्मों का आस्रव या बंध नहीं करतीं। साथ ही, सर्वज्ञ जीव के द्वितीयक कार्मिक घटक भी क्रमशः वियोजित होते जाते हैं और अंत में कोई कर्म-घटक बंधित अवस्था में नहीं रहता। इस स्थिति के अंतिम चरण में शरीर भी अक्रिय या क्रियारहित हो जाता है। इस अवस्था को 'अक्रिय सर्वज्ञता' या 'अयोग केवली का चरण कहते हैं। यही चौदहवाँ गुणस्थान गुणस्थानों का अंतिम चरण है।⁴ यह स्थिति निर्वाण प्राप्ति के पूर्व अधिकतम अंतर्मुहूर्त (< 48 मिनट) तक रहती है। जिस क्षण निर्वाण या महामृत्यु होती है, आत्मा पुनर्जन्म के चक्र से पूर्णतः मुक्त हो जाता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है। सारणी 7.3 में इन तीन उच्चतर गुणस्थानों का संक्षेपण किया गया है।

सारणी 7.3: अन्तिम तीन गुणस्थानों की सूची और उनका स्तर

चरण	नाम	स्तर
12.	क्षीण कषाय या लोभ—विलोपन के साथ पूर्ण संयम	
13.	क्रियाशील सर्वज्ञ दशा/सयोगकेवली	तीर्थकर
14.	अक्रिय सर्वज्ञता/अयोगकेवली	मोक्ष की ओर

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि

1. चौथा गुणस्थान अविरत—सम्यक्—दृष्टि है अर्थात् इसमें अविरति के साथ प्रबुद्ध दृष्टिकोण (सम्यक्त्व) होता है।
2. पांचवें गुणस्थान में अणुव्रतों वाली श्रावक अवस्था प्राप्त होती है।
3. छठें गुणस्थान में उच्चतर व्रतों के स्तर वाली साधु अवस्था प्राप्त होती है।
4. सातवां गुणस्थान लगभग उपाध्याय की अवस्था के समान होता है।
- 5-7. आठवें, नवें और दसवें गुणस्थान में संघ के नायक अर्थात् आचार्य के समान स्थिति होती है।
- 8-9. बारहवें और तेरहवें गुणस्थान तीर्थकर या सयोगकेवली की अवस्था है।
10. चौदहवां गुणस्थान मोक्षप्राप्ति के पूर्व की सर्वज्ञ या अयोगकेवली की अवस्था है।

इन गुणस्थानों को हम लगभग व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों से सह—सम्बन्धित कर सकते हैं। यहां पहला गुणस्थान तो आदिम जातीय व्यक्तित्व का निरूपक है। दूसरा गुणस्थान उच्चतर स्तर से आदिम स्तर की ओर अधःपतन वाली आदिम अवस्था है। तीसरा गुणस्थान भ्रामक व्यक्तित्व का निरूपक है। चौथे, पांचवे और छठें गुणस्थान क्रमशः ठोस, सुसंस्कृत, और प्रगत व्यक्तित्व के निरूपक हैं। सातवें गुणस्थान में प्रगत व्यक्तित्व में अप्रमादता एवं सावधानी आ जाती है। शेष गुणस्थान आध्यात्मिक या अलौकिक व्यक्तित्व के विभिन्न स्तरों के निरूपक हैं।

7.6 गुणस्थानों के स्तरों एवं संक्रमणों का योजनाबद्ध निरूपण

अब यहां गुणस्थानों के उपर्युक्त विवेचन के अनुरूप धारणाओं को परिमाणात्मक रूप में व्यक्त करना उपयोगी होगा। हमने अध्याय 5 में बताया है कि चारो कषायों में से प्रत्येक की पांच कोटियां होती हैं — 0,1,2,3 और 4। अब यहां यह प्रश्न उठता है कि कषायों के समान हम कर्म—बंध के कारणों की कोटि कैसे आवंटित करें ? अध्याय 6 के विवेचन को स्मरण

कीजिये जहां हमने यह बताया है कि मिथ्या दृष्टिकोण या मिथ्यात्व $3\frac{1}{2}$ जैन-विश्व कालचक्र (JTC) तक रह सकता है जब कि कोई भी कषाय 2 जैन विश्व कालचक्र के बराबर समय तक रहती है। इस आधार पर हम मिथ्यात्व को अभिलक्षणीत करने के लिये 0-7 की नाम-मात्रिक कोटि या माप दे सकते हैं। इसी बात को आगे बढ़ाते हुए हम

1. अविरति/असंयम को अधिकतम 4 की कोटि आवंटित कर सकते हैं
2. अप्रमाद को अधिकतम 4 की कोटि आवंटित कर सकते हैं
3. द्वितीयक कषायों को अधिकतम 4 की कोटि आवंटित कर सकते हैं
4. क्रियाओं (योग) को अधिकतम 1 की कोटि आवंटित कर सकते हैं

इस प्रकार पहले गुणस्थान में कर्म का घनत्व 36 इकाई होगा। इसी प्रकार, अन्य गुणस्थानों के लिये परिकलन करने पर, हम प्रत्येक के लिये कार्मिक घनत्व का आवंटन कर सकते हैं जिसे सारणी 7.4 में कुछ स्थितियों के साथ प्रस्तुत किया गया है। तथापि, यह ध्यान में रखना चाहिये कि ये माप और मापांक पूर्णतः स्वैच्छिक हैं और इनका उपयोग केवल यही है कि हम आध्यात्मिक विकास की प्रगति का कुछ अन्तर्दर्शन कर सकें।

चित्र 7.3 में किञ्चित् सूक्ष्म पैमाने पर सारणी 7.4 का योजनाबद्ध निरूपण किया गया है। उसमें x-अक्ष पर कर्म-बंध के कारक हैं और y-अक्ष पर आध्यात्मिक शुद्धिकरण के स्तर हैं। यहाँ कार्मिक घनत्व को नकारात्मक रूप में समझना चाहिये, अर्थात् जब कार्मिक घनत्व कम होता है, तब आध्यात्मिक शुद्धिकरण अधिक होता है अर्थात् चारों कषायों का प्रभाव कम होता है :

आध्यात्मिक शुद्धिकरण $\propto 1/\text{कार्मिक घनत्व}$

चित्र 7.3 में कार्मिक घनत्व को y-अक्ष के समानान्तर z-अक्ष से निरूपित किया गया है। छठवें गुणस्थान में संयम की पूर्णता होती है और वहाँ चारों कषायों की कोटियां मात्र आठ हो जाती हैं। B से B' एवं C से C' रेखाओं का अनुसरण करने पर, हम देखते हैं कि प्रमाद और क्रोध की कोटियां तो शून्य हो गई हैं पर अन्य तीन प्रमुख कषायें अब भी विभिन्न कोटियों में बनी हुई हैं।

चित्र 7.3 में यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रत्येक कर्म-बंध के कारण के लिये पृथक्-पृथक् सीमायें हैं, क्योंकि मिथ्यात्व और कषाय अथवा चार कषायों एवं नौ नो-कषायों के बीच कोई संततता नहीं है। कर्म-बंध कारकों की प्रत्येक क्रिया का समापन तब चालू हो सकता है जब सीमा रेखा आनत हो जाती है अर्थात् जब त्रिकोणी आकृतियां

प्रकट होती हैं। इस प्रकार बिन्दु O मिथ्यात्व के अपनयन के प्रारम्भ का सूचक है और बिन्दु A सारणी 7.4 के अनुरूप प्रबुद्ध दृष्टिकोण के विकास का प्रतीक है। बिन्दु B पर अविरति का अपनयन प्रारंभ हो जाता है और जब बिन्दु B आता है, तब पूर्ण संयम या नियंत्रण हो जाता है। इसी प्रकार, बिन्दु C' अप्रमाद का बिन्दु है जो सातवें गुणस्थान में प्राप्त होता है। बिन्दु D अक्रोध या शांति का बिन्दु है। बिन्दु E मायारहितता या सरलता का बिन्दु है, बिन्दु G द्वितीयक कषायों के विलोपन का बिन्दु है, बिन्दु H निर्लोभता या संतोष का बिन्दु है और बिन्दु K मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व का बिन्दु है। यहां यह ध्यान दीजियें कि बिन्दु K' पर अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में क्रियाओं की निवृत्ति प्रारंभ हो जाती है।

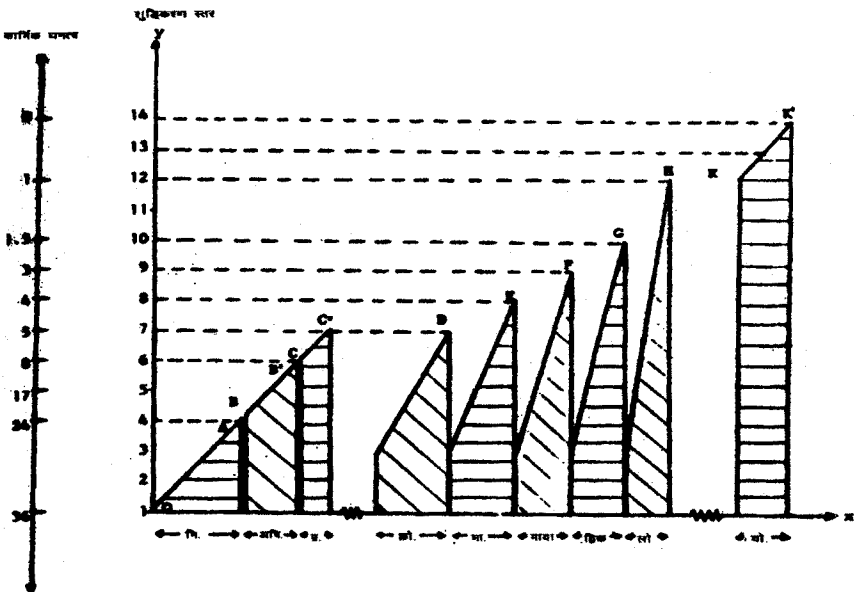
सारणी 7.4 विभिन्न गुणस्थानों में कर्मबंध के घटकों का कार्मिक घनत्व •

गुण	मि	अवि	प्र	कषायें					यो	कुल		टिप्पणी	
				क्रो.	मा	माया	द्वि. क.	लो.		कार्मिक घनत्व			
1	7	4	4	4	4	4	4	4	4	1	36		
2	5	4	4	4	4	4	4	4	4	1	34		
3	3	4	4	4	4	4	4	4	4	1	32		
4	0	4	4	4	3	3	3	3	3	1	24	सही दृष्टिकोण प्राप्त होता है	
5		2	4	2	2	2	2	2	2	1	17		
6		0	2	1	1	1	1	1	1	1	8	पूर्ण संयम प्राप्त होता है	
7			0	0	1	1	1	1	1	1	5	सावधानी आती है. क्रो = 0	
8					0	1	1	1	1	1	4	मान शून्य होता है	
9						0	1	1	1	1	3	माया शून्य होती है	
10							0	0.5	1	1	1.5	द्वि. कषायें दूर होती हैं	
11									0.1	1	1.1	अल्पतम लोभ	
12										0	1	1.0	सभी कषायें विलुप्त
13										0.1	0.1	ज्ञान पूर्ण होता है	
14										0.01	0.01	क्रियायें अवरुद्ध होती हैं	

• सारणी 7.4 के संकेत : गुणस्थान = गुण; मिथ्यात्व = मि; अविरति = अवि.; प्रमाद = प्र.; क्रोध = क्रो.; मान = मा.; द्वितीयक कषायें (हास्य आदि) = द्वि.क.; लोभ = लो; योग = यो.

चित्र 7.3 से हम कार्मिक घनत्व के परिवर्तन के सूक्ष्मतर मानों का अनुमान लगा सकते हैं। पहले गुणस्थान में, $y = 1$ और सारणी 7.4 से यह प्रकट है कि मिथ्यात्व, अविरति,..... लोभ और क्रियात्मकता के लिये कार्मिक घनत्व क्रमशः 7, 4,.....4 और 1 हैं। पांचवें गुणस्थान में कार्मिक घनत्व ज्ञात करने के लिये, हम $y = 5$ की रेखा देखें। यह रेखा मिथ्यात्व के त्रिकोण को अंतर्रोधित नहीं करती जिससे मिथ्यात्व स्तर पर कार्मिक घनत्व 0 हो जाता है और बिंदु BB' पर (द्रापीजियम) पर अन्तर्रोधन की आधार-लंबाई का आधा $\frac{1}{2}$ है, फलतः अविरति के लिए कार्मिक घनत्व 2 है। यह सारणी 7.4 के अनुरूप है। लेकिन बिन्दु G पर, अन्तर्रोधन पूर्ववत् द्रापीजियम की लम्बाई से आधा नहीं है, लेकिन कार्मिक घनत्व 2 से कुछ अधिक है। इस तरह चित्र 7.3 सारणी 7.4 में दी गई चरण-बद्ध योजना का अविरत रूप है।

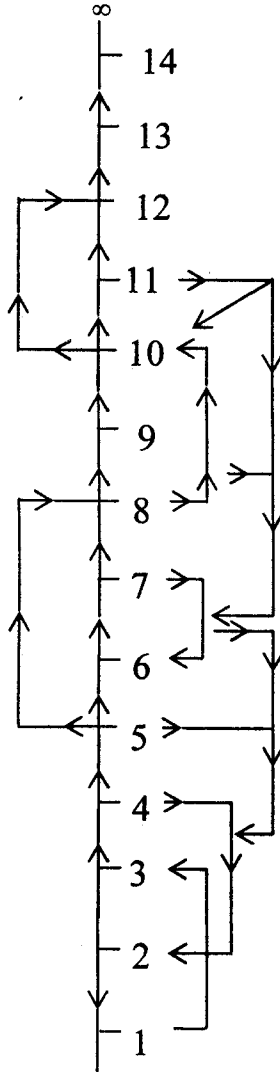
यहां यह ध्यान में रखिये कि अध्याय 3 में दिये गये जीवन-यूनिट



$10^1, 10^2, 10^3, 10^5, 10^{10}, 10^{100}$, यहां कार्मिक घनत्व के क्रमशः 36, 24, 8, 5, 3 व 0.01 मानों के लगभग अनुरूप हैं।

चित्र 7.3 कार्मिक घनत्व में हानि और शुद्धिकरण-स्तर में वृद्धि : मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध..... लोभ आदि की क्रियाओं के लिये $y =$ स्थिरांक रेखा पर छायाित चित्र के साथ बना अंतर्रोधन बंध - कारकों के कार्मिक घनत्व की

अनुरूपता प्रदर्शित करता है जब कि $y = 1$ पर मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध, लोभ और योग के लिए आधार तल की लम्बाई क्रमशः 7, 4, 4...4 और 1 है। यहां मि. आदि संकेत सारणी 7.4 के अनुरूप ही हैं।



चित्र 7.4 शुद्धिकरण चरण (गुणस्थान) के अक्ष पर संक्रमण : यहां चरण 2 चौथे या उसके ऊपर के गुणस्थान से अधःपतन पर ही संभव है।

7.7 विभिन्न गुणस्थानों में अन्योन्य-संक्रमण

हमने ऊपर यह संकेत दिया है कि एक गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान में परिवर्तन कैसे होता है ? चित्र 7.4 में इन विविध संक्रमणों को प्रदर्शित किया गया है। इसका प्रथम खंड (भाग) आध्यात्मिक अक्ष है जैसा चित्र 7.4 में बताया गया है। यहां हम प्रथम गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में जाते हैं, फिर चौथे गुणस्थान में जाते हैं और फिर या तो पांचवे गुणस्थान में जाते हैं या फिर गिर कर दूसरे गुणस्थान में आते हैं। फिर पांचवें गुणस्थान से या तो हम छठवें गुणस्थान में जाते हैं अथवा चौथे या दूसरे गुणस्थान में अधःपतित होते हैं। छठवें गुणस्थान से या तो हम सातवें गुणस्थान पर जाते हैं या फिर पांचवें या चौथे गुणस्थान में अधःपतित होते हैं। आठवें गुणस्थान से या तो हम नौवें गुणस्थान पर जाते हैं या फिर हम अधःपतित भी हो सकते हैं। नवमें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान में संक्रमण हो सकता है। अब व्यक्ति दसवें से सीधे बारहवें गुणस्थान पर जाता है। ग्यारहवां गुणस्थान अत्यंत ही सरकौआ या अविश्वसनीय है। इस स्तर से व्यक्ति अधःपतित होकर किसी भी स्तर पर गिर सकता है, पर सामान्यतः वह छठे या सातवें गुणस्थान पर आ जाता है। एक बार जब व्यक्ति बारहवें गुणस्थान पर आ जाता है, तब अधःपतन नहीं होता और वह तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान पर क्रमशः पहुंच जाता है। परिशिष्ट 4 में इन महत्त्वपूर्ण संक्रमणों को निदर्शित करने के लिये सांप-सीढ़ी का परिवर्धित खेल दिया गया है।

7.8 पारिभाषिक शब्दावली

चौदह शुद्धिकरण चरण = गुणस्थान,
 दृष्टिकोण, प्रबुद्ध दृष्टिकोण : सम्यक्त्व,
 संयम/विरति = आत्मसंयम/व्रत परिपालन,
 पूर्ण संयम = आत्मसंयम की परिपूर्णता
 चरण

1. मिथ्यादृष्टि : भ्रान्त या मिथ्या दृष्टिकोण
2. सासादन : अस्पष्ट दृष्टिकोण

- | | | |
|-----|---------------------------|--|
| 3. | मिश्र/सम्यक्
मिथ्यात्व | : भ्रान्त एवं प्रबुद्ध दृष्टिकोण का मिश्रण |
| 4. | अविरत सम्यक्
दृष्टि | : अविरत-प्रबुद्ध दृष्टिकोण |
| 5. | देशविरत | : अंशतः विरति के साथ प्रबुद्ध दृष्टिकोण |
| 6. | प्रमत्तविरत | : प्रमाद-विरति के साथ प्रबुद्ध दृष्टिकोण |
| 7. | अप्रमत्तविरत | : प्रमादरहित संयम |
| 8. | अपूर्वकरण | : अपूर्व परिणामों के साथ संयम |
| 9. | अनिवृत्तिकरण | : समान और मृदु परिणामों के साथ संयम |
| 10. | सूक्ष्म साम्पराय | : सूक्ष्म लोभ के साथ संयम |
| 11. | उपशांत मोह | : उपशमित लोभ के साथ संयम |
| 12. | क्षीण कषाय | : लोभ क्षय के साथ संयम |
| 13. | सयोग केवली | : क्रियाशील सर्वज्ञता |
| 14. | अयोग केवली | : अक्रिय सर्वज्ञता |

टिप्पणियां

1. पी. एस. जैनी पेज 140-41

“वीर्य और कर्म की निरंतर चलनेवाली अन्योन्यक्रियाओं की अस्थिरता के कारण”, कुछ अनुभव या अनुभूतियां (जैसे जिन या उसकी प्रतिमा के दर्शन, जैन-शिक्षा या उपदेशों का श्रवण या पूर्व-जन्म की स्मृति) मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति की अव्यक्त क्षमता (भव्यत्व) को व्यक्त कर सकती हैं और मोक्षमार्ग पर जाने की प्रक्रिया को प्रारंभ कर सकती हैं जिससे अंत में मोक्ष प्राप्त हो सके।”

2. पी. एस. जैनी; पेज 147

“पूर्व में मनुष्य अपने शरीर, परिग्रह, अवस्था आदि जीवन के बाह्य चिहनों से ही स्वयं को पहचानता था। इस स्थिति में वह बहिरात्मा की दशा में था जो अपनी पहिचान बाह्य माध्यमों में ही देखता था जिनमें चेतना प्रमुख थी जो केवल कर्म-फल के प्रति ही जागरूक रहती है। यह स्थिति इस मिथ्या धारणा पर निर्भर करती है कि व्यक्ति दूसरे जीवों में परिवर्तन लाने के लिये कर्ता बन जाता है।....”

3. पी. एस. जैनी; पेज 150

“सभी प्राणियों में मौलिक क्षमता के अस्तित्व के प्रति जागरूकता तथा इनके साथ घटित होने वाले सम्बन्ध सभी के प्रति अनुकम्पा की भावना को जाग्रत करते हैं। यद्यपि सामान्य मनुष्य की अनुकम्पा में दया या राग होता है, पर वास्तविक अनुकम्पा इस प्रकार के नकारात्मक पक्ष से मुक्त होती है। यह मात्र अंतःप्रज्ञा से विकसित होती है, दृश्य पर्यायों वाले द्रव्य को देखकर विकसित होती है। यह व्यक्ति के मन में एक निःस्वार्थ इच्छा जगाती है कि वह दूसरों के मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में सहायक बने।”

4. पी. एस. जैनी; पेज 159

“शरीर-धारण या जीवन के अंतिम क्षणों में योग (या क्रियाओं) का भी अवरोधन हो जाता है। यह नितांत अक्रियता की अवस्था ‘अक्रिय सर्वज्ञता’ या अयोग केवली की अवस्था कहलाती है। यह चौदहवां और अंतिम गुणस्थान है। निर्वाण या महामृत्यु के समय, आत्मा सांसारिक प्रभावों के अंतिम चिह्नों या सूचकों (शरीर आदि) से भी मुक्त हो जाता है।”

अध्याय 8

शुद्धिकरण के उपाय

8.1 विषय प्रवेश

सातवें अध्याय में हमने कर्म-बंध के पांच कारकों— मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग— के प्रतिकारकों के रूप में तपस्याओं का उल्लेख किया है। वस्तुतः, आचार्य उमास्वाति के अनुसार, (देखिये परिशिष्ट 3 अ, उद्धरण 8.1) 'तपस्या' शब्द का निहितार्थ है :

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह—जय और सम्यक्—चारित्र का विकास

इस प्रकार कर्म-बंध के पांच कारकों के लिये छह प्रतिकारक हैं जो 1. कर्मों के आस्रव को रोकने के लिये तथा 2. कर्म-पुद्गलों के आत्मा से वियोजन या निर्जरा के लिये उत्तरदायी होते हैं। स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 स के विवेचन के लिये, इन छहों प्रतिकारकों को 'तपस्या' माना जा सकता है। ये प्रतिकारक कर्म-क्षेत्र-कवच (संवर) भी कहलाते हैं।

अब हम चौदह गुणस्थानों या शुद्धिकरण चरणों के संदर्भ में इन छहों प्रतिकारकों का विस्तृत विवेचन करेंगे। जब मूलभूत आधार बन जाता है, तब ये छह प्रतिकारक जीव को छठे गुणस्थान तक ले जाते हैं। यहां ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उपरोक्त प्रतिकारक मुख्यतः उपवास द्वारा शरीर-शुद्धि, मौन साधना द्वारा वचन-नियंत्रण और ध्यान के माध्यम से मन को शांत करते हैं।

8.2 सम्यक्त्व या अंतर्दर्शन के आठ अंग (या घटक) या गुण

जब मनुष्य को अविरत सम्यक्-दृष्टि नामक चौथा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है, उसके सम्यक्त्व के आठ अंग प्रकट होते हैं। इसके बाद वह शुद्धिकरण-चरण की धुरी पर उच्चतर गुणस्थानों की ओर बढ़ता है। इनमें चार अंग तो नकारात्मक हैं, जो ये निम्न हैं :

1. निःशंकित जैन शिक्षाओं और उपदेशों के प्रति संशय/शंकाओं से मुक्ति
2. निःकाक्षित भविष्य की आशाओं/आकांक्षाओं से मुक्ति
3. निर्विचिकित्सा विरोधी धर्मों के बीच विवेकशीलता के कारण उत्पन्न घृणा से मुक्ति
4. अमूढ़ दृष्टि देव, गुरु व धार्मिक क्रियाओं से सम्बन्धित मिथ्या विश्वासों से मुक्ति

सम्यक्त्व के उत्तरवर्ती चार चरण सकारात्मक हैं, जो ये निम्न हैं :

5. उपगूहन/संरक्षण : समुचित मार्गदर्शन द्वारा लोगों की आलोचनाओं से जैन विश्वासों का संरक्षण और अतिचारी या अनाचारी मार्गच्युत सजातीय का समुचित उपदेश व निर्देश द्वारा सन्मार्ग में पुनः आनयन
6. स्थितिकरण : संशयालु लोगों को जैन-मार्ग में स्थिर रखने के प्रयास
7. प्रभावना : ऐसे सकारात्मक कार्य करना जो जैन धर्म के प्रभाव को संवर्धित करें.
8. वात्सल्य/
स्वामि-वात्सल्य : मोक्ष के आदर्श के प्रति निस्वार्थ श्रद्धा और उसके मार्ग का उपदेश देने वाले गुरुओं के प्रति भक्ति

8.3 जैन श्रावकों के लिये पांचवां गुणस्थान

पाचवें गुणस्थान में जैन श्रावकों के लिये त्याग, विरति या साधना-मार्ग के निम्न ग्यारह आदर्श चरणों (प्रतिमाओं) के पालन का निर्देश है। इन्हें उप-चरण या उप-सापान कहा जा सकता है। इन उप-चरणों की सीढ़ी चित्र 8.1 में प्रदर्शित की गई है। इसमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरण श्रावकों द्वारा प्राथमिक (स्थूल या अणु) व्रतों का स्वीकार करना है। इनमें भी पांच अणुव्रत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जो निम्न हैं :

1. दो या अधिक इंद्रिय वाले जीवों को कष्ट/पीड़ा पहुंचाने का वर्जन या परित्याग (अहिंसा)
2. सत्य का पालन या असत्य का परित्याग (सत्य)
3. बिना दी हुई वस्तु का न लेना या चोरी न करना (अचौर्य या अदत्तादान का त्याग)
4. विवाहेतर यौन-संबंध का त्याग (ब्रह्मचर्य)
5. परिग्रह या संपत्ति का परिसीमन (अ-परिग्रह)

इन अणुव्रतों को प्रबल करने के लिये पूरक के रूप में इनके कुछ अतिरिक्त सहायक व्रत भी होते हैं। इनके विवरण के लिये पी. एस. जैनी (1979, पेज 87) तथा विलियम्स (1963) की पुस्तकों का अध्ययन कर सकते हैं।

छठे गुणस्थान की ओर

11	—	परिवार-त्याग या उद्दिष्ट त्याग
10	—	अनुमति त्याग (गृह कार्यों में निर्देशन का त्याग)
9	—	परिग्रह त्याग (संपत्ति का वितरण/त्याग)
8	—	आरम्भ त्याग (गृह कार्यों से विरति)
7	—	ब्रह्मचर्य (मैथुन विरति)
6	—	रात्रि भुक्ति त्याग / दिवाभुक्ति-विरमण
5	—	भोजन में शुद्धि / सचित्त त्याग
4	—	पौषघोपवास (पवित्र दिनों में अनशन/उपवास)
3	—	सामायिक (समत्व का अभ्यास)
2	—	व्रत (स्थूल व्रतों का पालन)
1	—	दर्शन (सही दृष्टिकोण)

चौथे गुणस्थान से

चित्र 8.1 पांचवें गुणस्थान से सहचरित श्रावक के लिये त्याग के ग्यारह आदर्श चरण (प्रतिमायें)

इन ग्यारह उप-चरणों अंतिम चरण, उच्चतर चरण या साधु अवस्था के लिये तैयारी के चरण के रूप में माना जाता है। महात्मा भगवानदीन ने बताया है कि ये उप-चरण मूलतः स्व-लक्षी हैं, पर ये व्यक्ति-आधारित समाजोन्नति के आधार भी हैं (भगवानदीन, 2000)।

8.4 छठवां गुणस्थान और साधु

छठवें गुणस्थान में उच्चतर कोटि के व्रतों या महाव्रतों का पालन करना पड़ता है जिनमें कठोरतर तपस्यायें समाहित होती हैं। ये पूर्वोक्त 1-5 प्राथमिक व्रतों के विस्तार और संयोजन हैं और इनमें, विशेषतः परिग्रह-त्याग और गृहस्थ जीवन का पूर्णतः त्याग महत्वपूर्ण है।

इन व्रतों का समग्र उद्देश्य विविध प्रकार की क्रियाओं की सीमा और वारंवारता को अल्पीकृत करना है जिनसे नवीन कषायों के कारण अतिरिक्त कर्म-पुद्गलों का बंध होता है।

अब हम साधु की आवश्यक चर्या (देखिये 8.1) का विस्तृत विवेचन करेंगे। ये अभ्यास साधक को प्रगत ध्यान की अवस्था में पहुँचने के लिये

तैयार करते हैं जिससे आत्मा से कर्म-पुद्गलों का पूर्ण वियोजन हो जाता है और मोक्ष प्राप्त होता है।

1. **गुप्ति** : गुप्ति शब्द का निहितार्थ है – मन, वचन, और काय की प्रवृत्तियों को नियंत्रित करना या वश में रखना। इसका अर्थ है – अनावश्यक प्रवृत्तियों का वर्जन एवं एकतानता के लक्ष्य की प्राप्ति। ये गुप्तियां तीन हैं : मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति
2. **समिति** : समिति शब्द का अर्थ है विविध प्रकार की प्रवृत्तियों को सावधानीपूर्वक एवं सकारात्मक रूप से संपादन करना। ये समितियां पांच हैं :
 - (1) ईर्या समिति : आवागमन के समय जीवों की हत्या या लघुतर जीवों को पीड़ा न हो, इसका ध्यान रखना। चलते समय चार हाथ आगे देखकर चलना।
 - (2) भाषा समिति : सत्य वचन बोलने का प्रयत्न करना और कम-से-कम बोलने का अभ्यास करना।
 - (3) एषणा समिति : निर्दोष भिक्षा/आहार ग्रहण करना जिससे आत्म-संतुष्टि या कृतार्थता की भावना न पनप सके।
 - (4) आदान-निक्षेपण समिति : विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उठाने एवं रखने में सावधानी रखना जिससे किसी भी प्रकार के जीवों को पीड़ा या हानि न हो।
 - (5) व्युत्सर्ग समिति : मल-मूत्र त्याग आदि बाह्य उत्सर्जनी क्रियाओं में सावधानी रखना जिससे विभिन्न जीवों को कोई बाधा/पीड़ा न पहुंचे।
3. **धर्म** : **दश धर्म** : उपरोक्त अभ्यासों (गुप्ति/समिति) को प्रबल करने के लिये व्यक्ति को धर्म के दस नियमों का पालन करना चाहिये। ये धर्म निम्न हैं :
 1. उत्तम क्षमा क्रोध न करना, सहिष्णुता, धैर्य की पूर्णता
 2. उत्तम मार्दव विनम्रता, अभिमान न करना
 3. उत्तम आर्जव निश्छलता, सरलता, छल-कपट/मायाचारी नहीं
 4. उत्तम सत्य सत्य गुण की परिपूर्णता
 5. उत्तम शौच शुचिता, पवित्रता, लोभ का अभाव
 6. उत्तम संयम इंद्रिय और प्राणियों के प्रति निग्रह-भाव

- | | |
|----------------------|---|
| 7. उत्तम तप | बाह्य और अंतरंग तपस्याओं का अभ्यास |
| 8. उत्तम त्याग | चेतन और अचेतन परिग्रहों का त्याग |
| 9. उत्तम आकिंचन्य | स्वकीय ममत्व-बुद्धि का त्याग, अपरिग्रह |
| 10. उत्तम ब्रह्मचर्य | स्त्री सम्बन्धी गुण-स्मरण, कथा-श्रवण, संसर्ग आदि का त्याग |

यहां धर्म शब्द का अर्थ विविध प्रकार के नैतिक गुण और कर्तव्यों का अभ्यास है और उत्तम शब्द का अर्थ इन गुणों और कर्तव्यों की परिपूर्णता है।

4. **अनुप्रेक्षा या भावना** : 'अनुप्रेक्षा' का निहितार्थ है वारंवारता-पूर्वक मानसिक चिंतन जिसमें चित्त को लगाया जाता है। ये अनुप्रेक्षायें बारह होती हैं। इनका पारम्परिक विवरण तो इन्हें लगभग नकारात्मक रूप देता प्रतीत होता है, लेकिन गुरुदेव चित्रभानु (1981) ने इनकी पर्याप्त सकारात्मक व्याख्या की है। हम यहां दोनों प्रकार की व्याख्याओं को सहयोजित करेंगे। उपरोक्त बारह भावनायें निम्न हैं :
1. **अनित्यत्व** : हमारे चारों ओर विद्यमान सभी चीजें अस्थायी हैं, कुछ ही समय रहने वाली हैं। लेकिन इस परिवर्तनशील जगत् में केवल एक ही स्थायी वस्तु है - आत्मा।
 2. **अशरणत्व** : मृत्यु के समय हमारा कोई शरण या रक्षक नहीं होता, लेकिन अंदर एक अदृश्य एवं आंतरिक बल सदैव रहता है।
 3. **संसार (पुनर्जन्म का चक्र)** : यह संसार दुःखमय है। इसमें जन्म और मृत्यु का चक्र चलता रहता है। इस चक्र से मुक्ति भी संभव है।
 4. **एकत्व** : जब मनुष्य संसार चक्र से पार होता है, तब वह नितांत अकेला ही रहता है। इसलिये उसे आत्मनिर्भरता का अभ्यास करना चाहिये।
 5. **अन्यत्व** : हमारा शरीर और आत्मा (और उनके गुण) भिन्न-भिन्न है। हम केवल शरीर मात्र या भौतिक ही नहीं हैं। हमें आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति के माध्यम से जीवन का सही अर्थ समझना चाहिये।
 6. **अशुचित्व** : हमारा शरीर अनेक प्रकार के अपवित्र पदार्थों से बना हुआ है। यहां तक कि भौतिकतः अत्यंत आकर्षक शरीर में अनेक प्रकार के अपवित्र पदार्थ रहते हैं।

7. **आस्रव** : हमें इस पर विचार करना चाहिये कि कर्मों का आस्रव किस प्रकार होता है और हम दूर रह कर इसे कैसे अनुभव करें या अवलोकित करें ?
8. **संवर (कर्म-कवच)** : कर्मों का आस्रव कैसे रोका जा सकता है ? इस आस्रव-द्वार को कैसे अवरुद्ध किया जा सकता है जब कषायरूपी तूफान तेजी से आने वाला हो ?
9. **निर्जरा (संपूर्ण कर्म-क्षय)** : आत्मा से सहचरित कर्म-पुद्गलों को कैसे दूर किया जा सकता है जिससे आत्मा शुद्ध रूप को प्राप्त कर सके अर्थात् वह स्थायी तात्त्विक अवस्था (मोक्ष) को प्राप्त कर सके ?
10. **लोक** : यह त्रिस्तरीय विश्व अनादि है, किसी के द्वारा निर्मित नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी दुःख-विमुक्ति के लिये स्वयं भी उत्तरदायी है, क्योंकि इस प्रक्रिया में सहायता के लिए कोई सर्वशक्तिमान् ईश्वर नहीं है।
11. **बोधिदुर्लभ** : सम्यक्-ज्ञान या बोधि कठिनाई से ही प्राप्त होता है। यह केवल मनुष्य जीवन ही है जिसे सम्यक्-बोधि प्राप्त करने एवं मोक्ष-प्राप्ति के लिये विशेषाधिकार प्राप्त है।
12. **धर्म-स्वाख्यातत्त्व या जैन-पथ की सत्यता** : जैन तीर्थकरों के उपदेश ही सत्य हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जानता है और अनंत शांति के लक्ष्य को प्राप्त करता है।
5. **परीषह-जय** : 'परीषह' शब्द का अर्थ स्वयं-उत्पन्न कठिनाइयां हैं। ये कठिनाइयां भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, उपहास, कीट-काटन आदि के रूप में बीस या बाइस प्रकार की हैं। इन कठिनाइयों को अच्छी तरह शांतिपूर्वक सहन करने के उपायों पर विचार करना और अभ्यास करना परीषह-जय है।

सारणी 8.1 में विभिन्न गुणस्थानों में किये जाने वाले व्रत-अभ्यासों को दिया गया है।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि तीन गुप्ति, पांच समिति, दशधर्म, बारह अनुप्रेक्षाओं आदि का अभ्यास श्रावक के लिये केवल मार्गदर्शक है जो शुद्धिकरण के संभावित उपायों के विषय में अंतर्दृष्टि देता है और सामान्यतः उनका अभ्यास नियमित रूप से नहीं किया जाता, और यदि किया भी जाता है, तो परिपूर्णता के साथ नहीं। श्रावक इनमें से कुछ का ही अभ्यास (जैसे विशेष दिनों में उपवास आदि) कर सकता है। फिर भी, यह आशा की जाती

है कि साधु इन मार्गनिर्देशों का, जहां तक संभव हो सके, सभी समय परिपूर्णता से पालन करे। उदाहरणार्थ, साधु का आहार, श्रावक की अपेक्षा अधिक नियंत्रित होता है।

सारणी 8.1 गुणस्थान और उनके अनुरूप अभ्यास

गुणस्थान	अभ्यास
1-4	प्रश्न, "मैं कौन हूँ" उत्तर : स्वतःसिद्ध अवधारणा 1-3, 4 अ, 4 ब, 4 स में विश्वास (सम्यक्त्व के आठ अंगों का अभ्यास)
5	श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं (उपचरणों) का अभ्यास (चित्र 8.1 देखियें)
6.	गुप्ति 3; समिति 5; धर्म 10; अनुप्रेक्षा 12 परीषहजय 20 या 22 का अभ्यास
7.	धर्म ध्यान का अभ्यास
8-10.	पहले दो प्रकार के शुक्ल ध्यान का अभ्यास
12-14.	अन्तिम दो प्रकार के शुक्ल ध्यान का अभ्यास

8.5 उच्चतर गुणस्थान और ध्यान

उच्चतर गुणस्थानों में जाने के लिये, व्यक्ति को ध्यान के प्रगत रूपों—धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करना पड़ता है। ये ध्यान खंड 8.4 में वर्णित दश धर्मों के अंतर्गत विशेष तप धर्म के अंग हैं। धर्म ध्यान में 48 मिनट तक निम्न विषयों पर गहन विचारणा की जाती है¹ :

1. नौ तत्त्वों से सम्बन्धित जैन उपदेश (आज्ञा)
2. दूसरों को सहायता करने के साधन (अपाय)
3. कर्मों के विपाक और विसर्जन की प्रक्रिया (विपाक)
4. लोक की संरचना (लोक)

(यह विश्वास किया जाता है कि कोई भी व्यक्ति औसतन लगभग 48 मिनट तक ही गहन ध्यान में लीन रह सकता है)। ध्यान के समय प्रमाद का घटक दमित हो जाता है, फलतः ध्यान करने वाला अस्थायी रूप से सातवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। जब व्यक्ति ध्यान के समयों में लीन रहता है और बाद में सामान्य अवस्था में आता है, तब वह छठवें एवं सातवें गुणस्थान के बीच परिवर्ती होता रहता है।

अप्रमत्त अवस्था में किया जाने वाला ध्यान मोक्ष की तैयारी का सोपान माना जाता है, लेकिन यह स्वयं की सूक्ष्म कषायों का वियोजन नहीं

कर पाता। यह तो केवल अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में पहुँचने पर ही होता है जब व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति के अंतिम चरण में पहुँचने के प्रति निश्चित हो जाता है। यह तभी संभव है जब व्यक्ति चौथे – शुक्ल ध्यान या शुद्ध समाधि में लवलीन हो जाये। यह चौथा ध्यान चार प्रकार का होता है :

1. **पृथक्त्ववितर्क** : छह द्रव्यों की प्रकृति व उनके बहुपक्षीय रूप पर ध्यान लगाना
2. **एकत्ववितर्क** : किसी भी एक द्रव्य की प्रकृति और उसके बहुपक्षीय रूप पर ध्यान लगाना
3. **सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति** : सूक्ष्म क्रियाओं की अनुभवातीत अवस्था
4. **व्युपरत क्रिया-निवृत्ति** : परम अक्रियता की अनुभवातीत अवस्था

इनमें पहले दो शुक्ल ध्यान आठवें, नौवें, व दसवें गुणस्थान में कार्यकारी होते हैं जहां द्वितीयक कषायें (नो-कषाय) और अतिसूक्ष्म मुख्य कषायें क्रमशः या तो उपशांत हो जाती हैं या नष्ट हो जाती हैं (खंड 7.4 देखिये)। इनके अंत से आत्मा इतना वीर्य प्राप्त कर लेता है कि वह क्षपक श्रेणी के गुणस्थानों में जा सकता है और प्रत्येक चरण पर सूक्ष्म कषायों को उपशमित करने के स्थान पर वियोजित कर सकता है। इस प्रकार, ग्यारहवां गुणस्थान पार कर आत्मा सीधे ही बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है। इस चरण में आत्मा का शुद्धिकरण उच्चतम अवस्था में होता है और वह 'संयोग केवली' नामक तेरहवें गुणस्थान में तत्काल पहुँच जाता है।

मृत्यु के कुछ समय पूर्व आत्मा शुक्ल ध्यान के अंतिम दो रूपों का क्रमशः अभ्यास करता है, जिससे चौदहवें गुणस्थान में पहुँचने की अनुत्क्रमणीय प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। जैसा पूर्व में खंड 7.5 में बताया गया है कि सांसारिक या भौतिक मृत्यु के पूर्व चौदहवां गुणस्थान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। शुक्ल ध्यान की तीसरी अवस्था में जीव श्वासोच्छ्वास, हृदय-कंपन आदि के समान जीवन-नियंत्रक क्रियाओं को छोड़कर मन, वचन और काय की समस्त क्रियाओं से निवृत्त हो जाता है और शुक्ल ध्यान की चौथी अवस्था में ये नियंत्रक क्रियायें भी नहीं रहतीं और आत्मा निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

हमने यहां केवल दो सकारात्मक ध्यानों पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया है। इनसे अतिरिक्त, दो नकारात्मक मानसिक दशा वाले ध्यान भी हैं। एक को आर्त-ध्यान कहते हैं जिसमें प्रिय के वियोग, अप्रिय के संयोग या संपत्ति की हानि आदि के समान अरुचिकर प्रसंगों के समय चिन्तन या ध्यान

किया जाता है। यह मानसिक दशा क्लेश या चिन्ता की स्थिति है। उसके विपर्यास में, दूसरा ध्यान रौद्र ध्यान कहलाता है जिसमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के संरक्षण के समान आपराधिक दुष्क्रियाओं के विषय में चिन्तन किया जाता है एवं आनंद की अनुभूति की जाती है। ध्यान के ये दोनों प्रथम रूप छठवें गुणस्थान तक ही रहते हैं। इनके विषय में विस्तृत विवरण के लियें डा. टाटिया की पुस्तक (1986) देखा जा सकता है।

8.6 तीन रत्न या रत्नत्रय

हमने पूर्व में जो स्वतःसिद्ध अवधारणायें प्रस्तुत की हैं, उन्हें उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र' के निम्न सूत्र 1.1 के द्वारा संक्षेपित किया जा सकता है :

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।

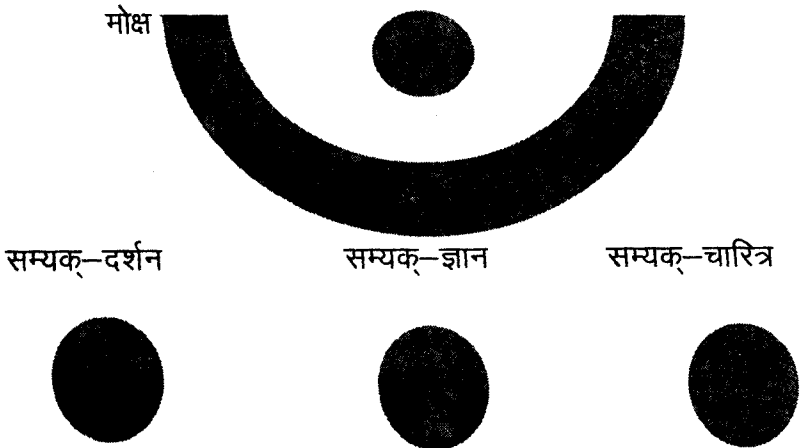
अर्थात् सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का समन्वित रूप मोक्ष का मार्ग है। (देखियें परिशिष्ट 3 ब, उद्धरण 8.2)। जैन धर्म में सम्यक् दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के त्रिक को 'रत्नत्रय' कहते हैं और इन्हें क्रमशः ही प्राप्त किया जाता है। इनमें सम्यक्-दर्शन या सम्यक्-विश्वास को ही सबसे पहले अपनाया जाता है — यह चौथे गुणस्थान में होता है — इसके बाद सम्यक्-चारित्र को आठवें गुणस्थान पर प्राप्त करते हैं और सम्यक्-ज्ञान को तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त करते हैं। चित्र 8.2 में इन विचारों के संक्षेपण को परम्परागत व प्रतीकात्मक रूप में प्रदर्शित किया गया है (जो सामान्यतः पूजा-प्रार्थना में प्रयुक्त होता है)। सामान्यतः इनके नीचे स्वस्तिक का चिह्न भी दिया जाता है जो प्राणियों की चार प्रकार की मानसिक दशाओं या चार गतियों का संकेत करता है (चित्र 3.3)। वास्तव में, सम्यक्-दर्शन (या सत्य अंतर्दृष्टि) आत्मा, कर्म-पुद्गलों तथा अन्य सात तत्त्वों (आस्रव आदि) में विश्वास करने की प्रक्रिया है। सम्यक्-ज्ञान इन्हें समझने और जानने की विधि है और सम्यक्-चारित्र तो तपस्या रूप है। (देखियें, परिशिष्ट 3 ब, उद्धरण 8.3)।

सम्यक्-ज्ञान अनेकांतवाद को भी महत्त्व देता है जिसे विविध पक्षों पर आधारित कथन के माध्यम से बहुतत्त्ववादी सापेक्ष दृष्टि से विचार करने तथा जैन अनुमान-विधि के माध्यम से वैज्ञानिक तर्क आदि के रूप में व्यक्त किया जाता है (देखियें अगला अध्याय 9)। यह कहा जाता है कि विकास की प्रक्रिया में पहले ज्ञान होता है, और उससे दया विकसित होती है (परिशिष्ट 3 ब, उद्धरण 8.4)। सम्यक्-चारित्र तो तप ही है जिसका वर्णन इसी अध्याय में पहले ही किया जा चुका है। परंतु यह ध्यान में रखना

चाहियें कि अंध-विश्वासी तप हमारे आत्म-विकास को बहुत आगे नहीं बढ़ाता। यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति सम्यक्-ज्ञान के बिना एक माह में केवल घास की एक नोंक के बराबर आहार लेता है, तो वह पुण्य का सोलहवां भाग भी अर्जित नहीं करता है (परिशिष्ट 3ब, उद्धरण 8.5)।

यह ध्यान देने की बात है कि प्राणियों पर चारों कषायों के विभिन्न स्तरों के प्रभाव निम्न प्रकार से होते हैं :

1. कषायों के चौथे स्तर पर, न तो विश्वास और न चारित्र ही सम्यक् होता है।
2. कषायों के तीसरे स्तर पर, विश्वास तो सम्यक् होता है, लेकिन वहां मिथ्या-चारित्र का त्याग अवरुद्ध होता है।
3. कषायों के दूसरे स्तर पर, संयम की पूर्णता में बाधा आती है, लेकिन सम्यक्-दर्शन और आंशिक संयम का अनुपालन होता है।
4. कषायों के पहले स्तर पर, संयम का पूर्णतः पालन होता है, लेकिन यहां ध्यान के प्रति कुछ उदासीनता रहती है और शरीर के प्रति सूक्ष्म कोटि का राग भी रहता है।
5. कषायों के शून्य स्तर पर, पूर्ण संयम की स्थिति प्राप्त होती है।



चित्र 8.2 जैनों के तीन रत्न और मोक्ष (इन तीन रत्नों के नीचे चित्र 3.3 में दिया गया स्वस्तिक का चिह्न भी चित्रित किया जाता है)।

इसके साथ ही, कर्म-घटक निम्नानुसार वियोजित होते हैं (यहां हम खण्ड 4.2 के अनुसार संकेतों का प्रयोग करेंगे) :

1. कर्म-घटक अ₁ (दर्शन मोहनीय) का चौथे गुणस्थान में वियोजन हो जाता है।
2. कर्म-घटक अ₂ (चारित्र मोहनीय) बारहवें गुणस्थान में वियोजित होता है।
3. मूलभूत तीन कर्म-घटक ब, स और द (अंतराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण) तेरहवें गुणस्थान में वियोजित होते हैं।
4. सभी चारों द्वितीयक (अघाति कर्म), य, र, ल, व (वेदनीय, नाम, आयु और गोत्रकर्म) चौदहवें गुणस्थान में मृत्यु के समय एक साथ वियोजित हो जाते हैं। यहां यह ध्यान देना चाहिये कि आत्मा सर्वप्रथम बाह्य आयतों को शुद्ध करता है, और उन्हें रिक्त करता हुआ केन्द्र की ओर बढ़ता है। जब जीव के समस्त कर्म-पुद्गल निर्जरित हो जाते हैं, तब चित्र 2.6 एक ऐसे रिक्त क्षेत्र में बदल जाता है जिसकी कोई सीमा नहीं होती। इससे ज्ञात होता है कि आत्मा पूर्णतः कर्म-रहित या शुद्ध हो गई है।

8.7 आत्मिक विकास की प्रक्रिया की परंपरागत घी-निर्माण और आधुनिक मोटर-संचालन प्रक्रम से सादृश्य

आध्यात्मिक प्रगति को समझाने के लिये प्रयुक्त परम्परागत उपमायें अनेक हैं। इनमें से एक में इस प्रक्रिया की घी (मक्खन के शुद्ध रूप) के बनाने की प्रक्रिया से तुलना की जाती है। सारणी 8.2 में इसके विभिन्न चरणों के अनुरूप आध्यात्मिक विकास के चरण बताये गये हैं। ये चरण लगभग गुणस्थानों के क्रम के समरूप ही हैं जैसा कि सारणी 8.2 के अन्तिम (तीसरे) कालम में दिया गया है।

सारणी 8.2 शुद्ध मक्खन (घी) बनाने की प्रक्रिया और आत्मा के शुद्धिकरण की प्रक्रिया की अनुरूपता

क्र.	घी बनाने की प्रक्रिया के चरण	आत्म-विकास के समानांतर चरण	गुणस्थान
1.	दूध से घी बनाना	सम्यक्-दर्शन के रूप में शुद्ध आत्मा के अस्तित्व का साक्षात्कार करना	4
2.	दूध को गर्म करना	अस्तिकाय आदि तप करना	5

3.	दूध को ठंडा करना	मन को शांत करना (ध्यान)	6
4.	जामन (कल्चर) मिलाना	सम्यक्-ज्ञान प्राप्त करना	6
5.	दूध को जमाने के लिये छह घंटे (या रातभर) रखना	मौन धारण करना (सम्यक्-चारित्र)	7
6.	मक्खन प्राप्त करने के लिये मथना या विलोना (चर्न)	ध्यान के प्रगत रूपों का अभ्यास	7-11
7.	मक्खन को गर्म कर घी प्राप्त करना	अग्नि = प्रगत शुक्ल ध्यान या समाधि घी = शुद्ध आत्मा	12

चौदह गुणस्थानों के माध्यम से मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया की तुलना मोटर-गाड़ी के संचालन की प्रक्रिया-सीखने तथा उसमें उत्तरवर्ती कुशलता प्राप्त करने की प्रक्रिया से भी की जा सकती हैं (मरडिया, 1981)। यहां यह ध्यान देना आवश्यक है कि इंग्लैंड के परीक्षण-मानकों में प्रशिक्षण प्रक्रिया में पूर्ण दक्षता की आवश्यकता नहीं होती और, फलतः, परीक्षण में सफल होने पर भी उत्तरवर्ती कुशलता प्राप्त करनी चाहिये। फिर भी, जीवन में व्यक्ति तब तक सदैव शिक्षार्थी या शिशिक्षु ही रहता है जब तक उसे मोक्ष प्राप्त न हो जाये।

गुणस्थानों के प्रथम चार चरण, 1-4, मोटरगाड़ी के सही उपयोगों को जानने और समझने के समान हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि हम मात्र यह जानें कि मोटर तो न केवल एक प्रशंसनीय यातायात का साधन है, अपितु हम यह जानें कि यह एक उपयोगी यंत्र है जिसे इस प्रकार चलाना चाहिये जिससे न तो चालक को और न उसमें बैठे अन्य व्यक्तियों को ही कोई खतरा उत्पन्न हो सके। कोई भी व्यक्ति, जो उक्त धारणा में विश्वास करता है और उसे प्रायोगिक रूप दे सकता है, वह इंग्लैंड के मोटर चालन के परीक्षण में सफल हो सकता है। तथापि, अच्छा मोटर चालक बनने के लिये चालन-क्रिया में उसे उत्तरवर्ती अभ्यास से विकास करना होगा। यह प्रक्रिया साधु-मार्ग को ग्रहण करने की प्रक्रिया के समकक्ष माननी चाहिये।

पांचवें और छठवें चरण में पूर्ण संयम का अभ्यास किया जाता है अर्थात् कार-चालक कार को नियंत्रण में रखता है, पर उसे अचानक तेज चलाने, कठोरता से ब्रेक लगाने या कार के प्रकाश-दीपों (कार-लाइट) को अधिक चमकाने या अनावश्यक भोंपू बजाने आदि बातों को टालना चाहिये।

चित्र 8.3 में कार-चालक में चारों कषायों की अभिव्यक्ति को प्रदर्शित किया गया है। तीन गुणधर्मों का अर्थ है – मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों को संयमित करना जिससे व्यक्ति बिना विचारों ही अपनी सहज प्रवृत्ति के अनुसार काम करे। सातवें गुणस्थान में समितियों (सावधानियों) की पूर्णता होती है अर्थात् आवश्यकतानुसार कार में लगे दर्पणों, सूचकों, प्रकाश-दीपों तथा अन्य उपकरणों का उपयोग करने में दक्षता आती है जिससे किसी दूसरे चालक व्यक्ति को बुरे चालन की चिंता न रहे और दुर्घटना की कोई संभावना न रहे। साथ ही, चालक प्रति समय सावधान रहता है जिससे वह दूसरों के बुरे चालन या अन्य कारकों के कारण सही सावधानी ले सके। आठवें से बारहवें चरण में कार के चालन में कषायों का अल्पीकरण या वियोजन समाहित होता है। इन कठिन दोषों का दूर करना सरल नहीं है, क्योंकि इनमें नियमानुसार अधिकतम गति से कम गति पर चलने के बावजूद भी लम्बे यातायात अवरोधों में व्यग्रता और बारबार पीछे की कारों द्वारा आगे निकल जाने के कारण असहजता आ जाती है। ये कषायें उग्र होती हैं और कभी-कभी ही उत्पन्न होती हैं क्योंकि इनको सामान्यतः नियंत्रण में रखा जाता है। तेरहवें चरण में चालक ऐसे स्तर पर पहुंच जाता है जिससे मार्ग पर न्यूनतम संकट की ही संभावना रहती है। चौदहवें चरण में क्रिया के निरोध की स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें व्यक्ति यह सोचता है कि कार के बिना काम चलाने में कोई संकट नहीं है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब उसका इंजन काम नहीं कर रहा है, तब उसमें कोई क्रिया नहीं होती अर्थात् उसमें कोई योग नहीं है। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह उपमा पूर्ण उपमा नहीं है।

इस अनुरूपता के माध्यम से हम पांच समितियों के उपयोग को भी निदर्शित कर सकते हैं। पहली समिति-ईर्या समिति (आवागमन में सावधानी) ऐसा कार-चालन जिसमें रास्ते पर चलने वाले पशु-पक्षी आदि को चोट न लगे। दूसरी वचन-समिति है जो कार चलाते समय कम-से-कम बात करने के समकक्ष है जिससे हमारा ध्यान दूसरी ओर कम-से-कम जाये। तीसरी समिति एषणा-समिति है जो मद्य-सेवन आदि के बिना कार चलाने के समकक्ष है जिसमें हमारा ध्यान सदा कार चलाने पर ही केंद्रित रहता है। चौथी समिति आदान-निक्षेपण समिति है जो कार चलाने के पूर्व उसकी जांच-पड़ताल कर लेने एवं कार को रखने के लिये ऐसे स्थल को खोजने के समकक्ष है जहां बच्चों या पशुओं को आघात न लग सके। अंतिम समिति व्युत्सर्ग समिति है जो सीमित जगह में कार के इंजन न चलाने के समकक्ष है जिससे पास-पड़ोस के लोग बहिर्गमित गैसों से प्रभावित न हो सकें।



चित्र 8.3 एक कार चालक में चार कणायें

8.8 पारिभाषिक शब्दावली

1. सम्यक्त्व के आठ अंग

निःशंकित	:	शंका से मुक्ति
निःकाक्षित	:	प्रत्याशाओं, इच्छाओं/ आकांक्षाओं से मुक्ति
निर्विचिकित्सा	:	घृणा से मुक्ति
अमूढदृष्टि	:	मिथ्या धारणाओं या विश्वासों से मुक्ति
उपगूहन	:	सुरक्षा एवं संरक्षण
स्थितिकरण	:	स्थिरीकरण और संवर्धन
प्रभावना	:	उत्सवों/उपदेशों आदि के द्वारा धर्म का प्रभावी संप्रसारण
वात्सल्य	:	निःस्वार्थ स्नेह/सेवा

2. जैन श्रावक के पांच प्राथमिक या स्थूल व्रत (अणुव्रत)

अहिंसा	:	मन, वचन, काय से किसी को कष्ट न पहुंचाना, प्रेमभाव
सत्य	:	अप्रिय एवं कटु सत्य या झूठ न बोलना
अस्तेय	:	चोरी न करना, बिना दी हुई वस्तु न लेना, ईमानदारी
ब्रह्मचर्य (अणु)	:	पत्नी के अतिरिक्त मैथुन से विरमण
अपरिग्रह	:	आवश्यकता से अधिक संग्रहण न करना

3. प्रतिमा : त्याग के आदर्श चरण, त्याग के मानसिक संकल्प के चरण

4. कर्मबलों के प्रतिकारक बल

गुप्ति	:	मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों का नियमन/संरक्षण
समिति	:	सावधानी
दश धर्म	:	सम्यक् कर्म/कर्तव्य : दस प्रकार के धर्म
अनुप्रेक्षा	:	मानसिक चिंतनों की बारंबारता। ये बारह अनुप्रेक्ष्य हैं :

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ एवं धर्म-स्वाख्यातत्त्व

- परीषह-जय : स्वकृत/स्वयंकृत संकल्पित कठिनाइयों (क्षुधा, तृषादि वाईस) के प्रति सहनशीलता/कष्ट की अनुभूति न करना।
- सम्यक्-चारित्र : बुद्धिसंगत आचार/तप

5. ध्यान : चित्त को एकोन्मुखी बनाना
- आर्तध्यान : इष्ट वियोग/अनिष्ट संयोग के प्रति चिन्तन
- रौद्रध्यान : हिंसादि कार्यों पर आनंदानुभूति का चिन्तन
- धर्म ध्यान : वस्तु स्वरूप या धर्मों पर एकाग्र चिन्तन
- शुक्ल ध्यान : समाधि, सगुण/निर्गुण ध्यान

6. रत्नत्रय (तीन रत्न)

- सम्यक्-दर्शन : सत्य अंतर्दृष्टि, बुद्धिसंगत विश्वास/श्रद्धा
- सम्यक्-ज्ञान : बुद्धिसंगत ज्ञान, सच्चा ज्ञान
- सम्यक्-चारित्र : बुद्धिसंगत आचार/तप/आत्म-संयम

टिप्पणियां

1. पी. एस. जैनी; पेज 252-53

धर्म ध्यान अल्प समय (48 मिनट तक) के लिये निम्न अनेक विषयों में से एक के विषय में गहन चिन्तन को समाहित करता है :

- (1) नौ तत्त्वों के विषय में जिन भगवान के उपदेशों और उन्हें कैसे दूसरों को अच्छी तरह संप्रसारित किया जाय (आज्ञा-विचय)।
- (2) कषाय और अज्ञान के कारण पथभ्रष्ट एवं मन-भ्रष्ट प्राणियों के दुःख और उस दुःख से उन्हें कैसे बचाया जाय (अपाय-विचय)
- (3) कर्मों के आस्रव, बंध, स्थिति एवं परिणामों की रहस्यात्मक क्रियाविधि पर विचार तथा इस पर विचार कि आत्मा मौलिक रूप से इन प्रक्रियाओं से मुक्त है और वह इन प्रक्रियाओं से स्वयं को मुक्त कर सकता है (विपाक-विचय)
- (4) लोक की रचना तथा उन कारणों पर विचार जिनसे आत्मा विभिन्न गतियों में चक्कर लगाता है (संस्थान-विचय)।

अध्याय 9

जैन तर्कशास्त्र

9.1 विषय प्रवेश

जैनों का विश्वास है कि आत्मा (जीव) जितना ही शुद्धतर होगा, उतना ही उसके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य का स्तर उच्चतर होगा। केवल सर्वज्ञ ही छः द्रव्यों और नौ तत्त्वों को सम्पूर्ण यथार्थता के साथ जान सकता है। इसके विपर्यास में, हमारा सामान्य ज्ञान चार अन्य प्रकार के ज्ञानों के माध्यम से होता है : 1. मतिज्ञान (इंद्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न ज्ञान) 2. श्रुतज्ञान या आगम (जो ज्ञान के क्षेत्र में उच्चतम प्रमाण है), 3. अवधिज्ञान (सीमित ज्ञान) और 4. मनःपर्यवज्ञान (दूसरों के मन की बात जानना)। जैसी कि विज्ञान में मान्यता है, व्यक्ति या तो अपनी धारणाओं को अधिकारी विद्वानों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर मान लेता है (जैसा हम सामान्यतः करते हैं) अथवा वह प्रत्येक धारणा को स्वयं सत्यापित करता है (जो हम कभी-कभी ही ऐसा कर पाते हैं)। तथापि, कुछ ऐसे स्वीकार्य सिद्धान्त अवश्य होने चाहिये जिनके आधार पर हम अपनी जिज्ञासा शांत कर सकते हैं। साथ ही, सभी प्रकरणों में संवर्धन या परिवर्तन के लिये संभावना तो रहती ही है।

यहां हम जैन तर्कशास्त्र के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कर रहे हैं जिनसे हमें उन प्रश्नों के उत्तर मिल सकते हैं जिनके विषय में पूर्णतः निश्चित या अनिश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि कण भौतिकी से सम्बन्धित वर्तमान सिद्धान्त (अध्याय 10 देखिये) इसी प्रकार के सिद्धान्त पर आधारित है।

जैनों ने ज्ञान और ज्ञान-प्राप्ति के विलक्षण सिद्धान्त का विकास किया है। यह एक जटिल विषय है, लेकिन यहां हम इसे संक्षेप में ही विवेचित करेंगे (देखिये टाटिया आदि के द्वारा अनुदित तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय 1 और 5, 1994)। व्यापक रूप से, हम यह कह सकते हैं कि इस विषय में तीन प्रमुख बिंदु होते हैं :

1. प्रमाण (ज्ञान के साधन, ज्ञान के अनुमत साधन)
2. नय (आंशिक दृष्टिकोण, दार्शनिक दृष्टिकोण)
3. अनेकांतवाद (समग्रता पर आधारित सिद्धान्त)। इसकी अभिव्यक्ति के लिये स्याद्वाद (सापेक्ष कथन) एक अनिवार्य अंग है।

किसी भी वस्तु के विषय में ज्ञान की प्राप्ति दो प्रक्रियाओं से होती है : 1. आंशिक प्रक्रिया (नय) 2. समग्र प्रक्रिया (प्रमाण)। समग्र प्रक्रिया को प्रमाण (ज्ञान के साधन) कहते हैं। यह विधि न केवल दर्शन एवं परीक्षण की प्रक्रिया को विश्वसनीयता प्रदान करती है, अपितु यह मानसिक अवबोधन की प्रक्रिया को भी विश्वसनीयता प्रदान करती है। दोनों – भौतिक और मानसिक प्रक्रियाओं के समाहरण से यह विधि वस्तु की समग्रता को प्रदर्शित करती है। इसके विपर्यास में, आंशिक प्रक्रिया को नय (या सापेक्ष दृष्टिकोण) कहते हैं। इस प्रक्रिया में वस्तु का अध्ययन किसी भी समय किसी विशेष अपेक्षा या पक्ष के आधार पर किया जाता है। चूंकि वस्तु के अनेक धर्म या पक्ष होते हैं, फलतः नय भी अनेक हो सकते हैं। तथापि, इससे वस्तु के स्वरूप का समग्र चित्र नहीं मिल पाता।

प्रमाण के दो भेद हैं : 1. प्रत्यक्ष और 2. परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं – 1. इंद्रिय प्रत्यक्ष और 2. अ-निद्रिय प्रत्यक्ष। इंद्रियजन्य ज्ञान के अंतर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क या व्याप्ति (सह-धर्मिता या अविनाभाव) और अनुमान के प्रक्रम समाहित होते हैं। यहां यह ध्यान देने की बात है कि आगे दिये गये विवरण में पंचावयव अनुमान के अंग हैं। जैन सिद्धान्त की यह मान्यता है कि अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान अनिद्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। जैनों के प्रमुख आगम ग्रंथ परोक्ष ज्ञान के प्रमुख स्रोत हैं। कोई भी प्रत्यक्ष ज्ञान, जो शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाय, ज्ञान का परोक्ष स्रोत है। इस प्रकार के ज्ञान के विशेष विवरण के लिये तत्त्वार्थसूत्र (अनुवाद डा. टाटिया, डा. जैनी आदि, पेज 15) देखिये।

नय किसी भी वस्तु के क्रमिक एवं सम्पूर्ण अध्ययन के लिये आधार का काम करते हैं। ये दो प्रकार से संभव हैं : 1. वस्तु के गुणों के आधार पर और 2. वस्तु के गुणों के विषय में शाब्दिक अभिव्यक्ति के आधार पर। ये आधार वस्तु के गुणों या शाब्दिक अभिव्यक्तियों के समग्र सामान्य चित्र से प्रारम्भ होकर अंतिम चित्र तक जाते हैं। इस आधार पर जैनधर्म में सात नय बताये गये हैं:

1. नैगम नय (सामान्य व्यक्ति का दृष्टिकोण)
2. संग्रह नय
3. व्यवहार नय
4. ऋजुसूत्र नय (रैखिक नय)
5. शब्द नय
6. समभिरूढ़ नय (व्युत्पत्ति-जन्य)
7. एवम्भूत नय

इनकी व्याख्या समय की अपेक्षा से की जा सकती है। इनमें पहला नय (नैगम नय) तीनों कालों की अपेक्षा निदर्शित किया जा सकता है जबकि ऋजुसूत्र नय वर्तमान क्षण को ही निदर्शित करता है। इसके विपर्यास में, एवंभूत नय वर्तमान काल एवं वर्तमान क्षण को निदर्शित करता है। इस प्रकार, नयों के विशिष्ट पक्षों की अपेक्षा ज्ञान स्थूल कोटि से प्रारम्भ होकर सूक्ष्म कोटि की ओर बढ़ता है।

अब हम तर्कशास्त्र सम्बन्धी कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे।

9.2 अनुमान के पांच अवयव

हम सबसे पहले जैनों के अनुमान के पांच अवयवों पर विचार करेंगे। जैनों की मध्यम 'पंचपदी' में पांच कथन या प्रतिज्ञायें होती हैं। उदाहरणार्थ,

1. टॉम की मृत्यु हो गई, डिक की मृत्यु हो गई और हैरी की भी मृत्यु हो गई।
2. टॉम, डिक और हैरी सचमुच में सामान्य जाति के मनुष्य हैं।
3. सभी सामान्य जाति के मनुष्य मरते हैं।
4. जॉन भी एक मनुष्य है।
5. अतः जॉन की भी मृत्यु होगी।

इस मध्यम पंचपदी के अंतिम तीन पद या कथन, वास्तव में अरस्तू के अनुमान की त्रिपदी के समान माने जा सकते हैं, जिसके अनुसार,

1. मनुष्य मरणशील है।
2. जॉन एक मनुष्य है।
3. इसलिये, जॉन मरणशील है।

मध्यम अनुमान-पदी तर्क की आगमनात्मक और निगमनात्मक विधियों के स्पष्टतः संयोग को प्रदर्शित करती हैं। वस्तुतः, ये वैज्ञानिक और सांख्यिकी विचारधारा के चरणों को प्रतिबिंबित करती हैं। इसके पहले दो पदों को आबादी (जनसंख्या) के निरीक्षण के रूप में माना जा सकता है और तीसरा पद निरीक्षणों के आधार पर अनुमान लगाने की प्रक्रिया के समान सोचा जा सकता है। इसके अंतिम दो पदों को एक नये निरीक्षण का प्रलम्न (प्रोजेक्शन) माना जा सकता है। इस प्रकार के अनुमान पर आधारित वैज्ञानिक विधियों के भी मील के पत्थर हैं और सभी प्रकार के वैज्ञानिक अनुप्रयोगों में इन्हें ओझल नहीं करना चाहिये।

वास्तव में, जिस पंचपदी के पांचों अवयव अन्योन्य-रूप से एकरूपता में हों, वह यथार्थ मानी जाती है। उपरोक्त उदाहरण में पांच अवयव निम्न हैं :

1. जॉन की मृत्यु होगी,
2. क्योंकि वह मनुष्य है,
3. जैसे, टॉम, डिक और हैरी,
4. चूंकि उनकी मृत्यु हुई,
5. अतः जॉन की भी मृत्यु होगी,

जब पंचपदी के कोई भी अवयव हमारे निरीक्षण के अनुरूप नहीं होते, तब यह पंचपदी आभासी कहलाती है।

9.3 सापेक्षवाद या पारिस्थितिक कथन का सिद्धान्त या स्याद्वाद

जैन परम्परा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय सिद्धान्त 'सापेक्ष कथन' का सिद्धान्त है जिसे 'स्याद्वाद' कहते हैं। इसमें निष्कर्ष या विषय-वस्तु को सात नयों के आधार पर परीक्षित किया जाता है जिसे 'सप्तभंगी नय' कहते हैं। इस सिद्धान्त के नामकरण में 'स्यात्' उपसर्ग होता है जिसका अर्थ है - 'अपेक्षा विशेष से'। इसका अर्थ 'शायद' (संदेह और अनिश्चय) के रूप में नहीं होता। इसके सात नय निम्न हैं :

1. यह है (एक नय की अपेक्षा);
2. यह नहीं है;
3. यह है और यह नहीं है;
4. यह अवक्तव्य है;
5. यह है और अवक्तव्य है;
6. यह नहीं है और अवक्तव्य है;
7. यह है, यह नहीं है और यह अवक्तव्य है।

यहां यह ध्यान देने की बात है कि इन सभी कथनों में अनिश्चितता का कुछ अंश है और इसलिये इनमें से प्रत्येक कथन को 'नय' कह सकते हैं, क्योंकि यह किसी वस्तु के एक पक्ष को प्रतिबिंबित करता है। यहां कथन 1. यातायात-सूचक प्रकाश-दीप समुच्चय के 'हरे' रंग के रूप में माना जा सकता है। कथन 2 को 'लाल' रंग के रूप में माना जा सकता है। इन कथनों का विशिष्ट बिन्दु कथन 4 है जो अवक्तव्यत्व या अनिर्धारकत्व की संभावना को सूचित करता है। अन्य सभी कथन 3, 5, 6 व 7, कथन 1 और 2 के साथ कथन 4 के समुच्चय को व्यक्त करते हैं। यहां 'स्यात् शब्द' का 'शायद' के रूप में अनुवाद नहीं है। इसका सही अनुवाद 'एक नय या अपेक्षा से' अधिक उपयुक्त है।

1. + = संभवतः, यह है (एक नय की अपेक्षा)
2. - = संभवतः, यह नहीं है
3. ± = संभवतः, यह है और यह नहीं है

4. ? = संभवतः, यह अवक्तव्य या अनिश्चित है
5. + ? = संभवतः, यह है और यह अवक्तव्य भी है
6. - ? = संभवतः, यह नहीं है और यह अवक्तव्य भी है
7. ± ? = संभवतः, यह है और यह नहीं है और यह अवक्तव्य भी है

चित्र 9.1 सात आपेक्षिक कथनों का योजनाबद्ध निदर्शन

+ = भारी बड़े अक्षर; - = बड़े अक्षर ; ? = टेड़े बड़े अक्षर

इस प्रकार, इस परीक्षण के आधार पर हम गुणात्मक निर्णय पर पहुंच सकते हैं। इसका योजनाबद्ध निरूपण चित्र 9.1 में किया गया है। हम यह जानते हैं कि प्रत्येक निरीक्षण में निरीक्षक समाहित होता है। उपर्युक्त सिद्धान्त में निरीक्षक के बिना ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है, लेकिन इसमें थोड़ी बहुत त्रुटि की सीमा समाहित रहती है।

कोठारी (1975) ने बताया है कि क्वांटम यांत्रिकी का अध्यारोपण सिद्धान्त (सुपर-पोजीशन प्रिंसिपल) 'स्याद्वाद' का एक निदर्शक उदाहरण प्रस्तुत करता है।

मान लीजिये कि किसी क्वांटम यांत्रिक तंत्र के लिये, Kets (a) $|\alpha' \rangle$ and (b) $|\alpha'' \rangle$ किसी भी निरीक्षण अवस्था, α की आइजन-अवस्थायें हैं। साथ ही, यह भी मान लीजिये कि इस तंत्र के लिये अवक्तव्य अवस्था को (c) $|P \rangle = | \rangle + |\alpha'' \rangle$ $\alpha' \rangle$ के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। फलतः चित्र 9.1 की शब्दावली में, हम उपरोक्त परिमाणों को निम्न प्रकार पहचान सकते हैं:

(a) by +, (b) by -, एवं (c) by = ?.

भरुचा (1993) ने स्याद्वाद और क्वांटम तर्कशास्त्र की 'सत्य सारणी' (दुथ टेबिल) प्रस्तुत की है।

महलनोबिस, (1954) ने स्याद्वाद के सात कथनों को सांख्यकीय रूप में निम्न रूप में प्रस्तुत किया है :

$${}^3C_1 + {}^3C_2 + {}^3C_3 = 7.$$

9.4 सापेक्ष समग्रता का सिद्धान्त या अनेकांतवाद

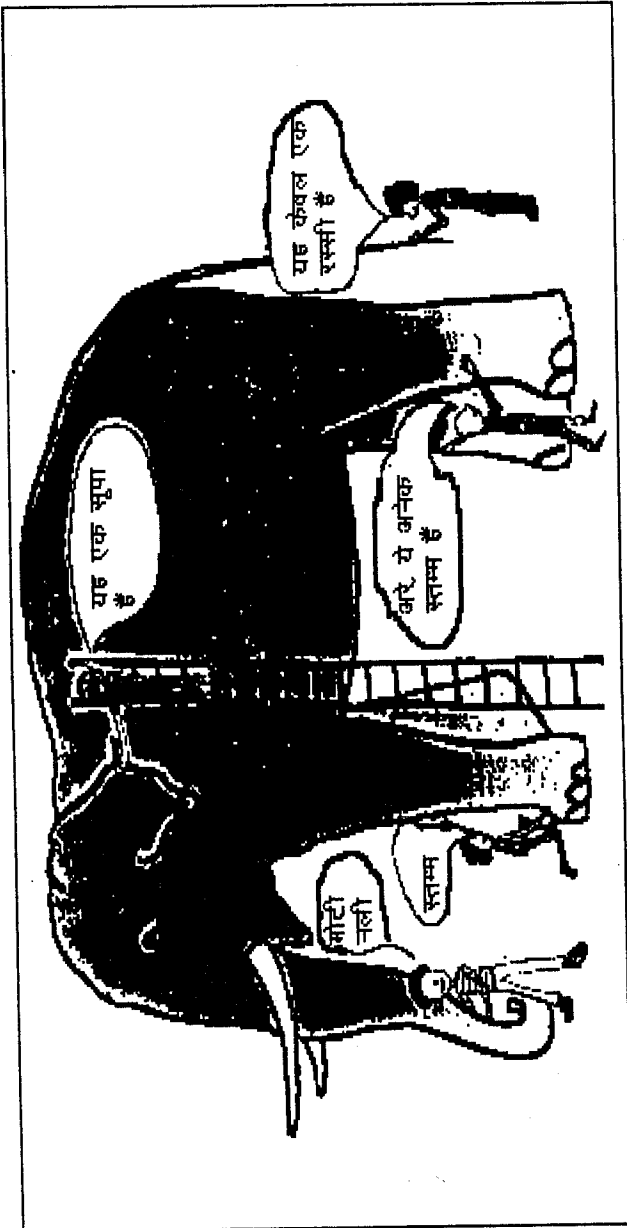
अभी हमने सापेक्ष कथनों के द्वारा किसी प्रश्न के उप-अंगो या विविध पक्षों के निरीक्षण की विधियों का वर्णन किया है। तथापि, यह ध्यान में

रखना चाहिये कि समग्र ज्ञान को न्याय-वाक्यों (सिलोगिजम) के बारम्बार उपयोग के माध्यम से संयोजित किया जाता है। इस दृष्टि से पहले हम निम्न उदाहरण पर विचार करें। छह अंधे हैं जो हाथी के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान करना चाहते हैं। उनमें से प्रत्येक अंधा हाथी के विभिन्न अंगों या शरीर के अवयवों का स्पर्श करता है (देखिये चित्र 9.2)। जो अंधा व्यक्ति हाथी का पैर छूता है, वह कहता है, "हाथी तो एक स्तंभ या खंभे के समान है।" जो व्यक्ति सूंड को पकड़ता है, वह कहता है, "हाथी तो एक नली के समान है।" जो व्यक्ति हाथी के कान को पकड़ता है, वह कहता है, "हाथी तो सूप के समान है" इत्यादि। इस प्रकार हम देखते हैं कि हाथी के सम्बन्ध में प्रत्येक अंधे व्यक्ति का मत भिन्न-भिन्न है। इसलिये यदि हम हाथी के विषय में समग्र रूप से जानना चाहते हैं, तो हमें उसे सभी ओर से देखना चाहिये। हाथी के निदर्शन के संदर्भ में प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण के इंद्रियजन्य रूप अर्थात् स्पर्शन के द्वारा निरीक्षण के रूप में समाहित होता है। प्रत्येक अंधे व्यक्ति का निरूपण नय की कोटि में आता है। (यह कहानी पश्चिम जगत में सर्वप्रथम जे.जी. साक्स (1816-1877) की कविता के माध्यम से लोकप्रिय हुई प्रतीत होती है। मरडिया (1991) ने इस कविता को पूर्णतः उद्धृत किया है)।

यह कहानी जैनों के अनेकांतवाद के सिद्धान्त को निदर्शित करती है। अब हम इसे एक वास्तविक प्रकरण पर लागू करें। हम निम्न आपेक्षिक कथनों पर विचार करें :

1. पृथ्वी गोल हो सकती है।
2. पृथ्वी गोल नहीं भी हो सकती है।
3. पृथ्वी गोल भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती है।
4. पृथ्वी की आकृति अवक्तव्य या अनिश्चित हो सकती है।
5. पृथ्वी गोल हो सकती है और इसकी आकृति अनिश्चित हो सकती है।
6. पृथ्वी गोल नहीं हो सकती है और इसकी आकृति अनिश्चित हो सकती है।
7. पृथ्वी गोल हो भी सकती है, गोल नहीं भी हो सकती है और इसकी आकृति अनिश्चित हो सकती है।

इन सात कथनों के आधार पर हम यह निष्कर्ष प्राप्त करते हैं कि विश्वीय दृष्टिकोण से पृथ्वी गोल है, लेकिन यह स्थानीय या क्षेत्रीय दृष्टिकोण से यह गोल नहीं है। इसी तरह के निष्कर्ष हम मंगल और शुक्र ग्रहों के विषय में भी प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये ये निष्कर्ष सभी ग्रहों पर भी लागू हो सकते हैं।



चित्र 9.2 जैनों के समग्रता सिद्धान्त का निदर्शन : हाथी और छह अंधे
(चित्र में केवल पांच दिखाये गये हैं)

उपरोक्त पंचपदी (देखिये, 9.2) को इन ग्रहों के समान गुणवाले किसी भी नये ग्रह पर लागू कर सकते हैं। इस स्थिति में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह नया ग्रह विश्वीय दृष्टिकोण से गोल है, लेकिन क्षेत्रीय दृष्टि से गोल नहीं है।

इस प्रकार, हम प्रत्येक प्रकरण में सापेक्ष समग्रता या अनेकांतवाद के सिद्धांत पर पहुंच जाते हैं। प्रत्येक वस्तु पर अनुप्रयुक्त सापेक्ष कथन माला के वे मनके हैं जो अनेकांतवाद के धारों से एक-दूसरे से गुंथे हुए हैं।

9.5 विवेचन

इस अध्याय में हमने जैन तर्कशास्त्र एवं दर्शन के केवल अल्पांश को ही विवेचित किया है। यहां यह ध्यान देने की बात है कि अनेकांतवाद पर आधारित कथन प्रत्येक तंत्र के मुख्य बिंदु हैं।

यह सिद्धान्त तत्त्वशास्त्रीय प्रश्नों पर भी अनुप्रयुक्त होता है। प्रत्येक द्रव्य के तीन पक्ष होते हैं : 1. द्रव्यत्व 2. गुण और 3. पर्याय। साथ ही, किसी भी ऐहिक पक्ष के लिये, प्रत्येक परिस्थिति में चार महत्त्वपूर्ण कारक होते हैं : 1. विशिष्ट वस्तु 2. विशिष्ट क्षेत्र, 3. विशिष्ट समय एवं 4. विशिष्ट अवस्था। अनेकांतवाद का सिद्धांत किसी भी वस्तु को इन चारों बहु-आयामी पक्षों से देखने का प्रयत्न करता है। व्यावहारिक दृष्टि से, इस सिद्धान्त का निहितार्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अतिवादी दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिये एवं संकुचित दृष्टिकोण के बदले व्यापक दृष्टिकोण से ही सोचना चाहिये।

माटीलाल (1981) ने तर्क-संगत रीति से बताया है कि अनेकांतवाद का सिद्धांत संश्लेषण का दर्शन है। इसका सार यह है कि विभिन्न दार्शनिक तंत्रों में विद्यमान धारणाओं या दृष्टिकोणों को व्यापक दृष्टि से प्रस्तुत किया जाय। दार्शनिक विधि-विद्या के रूप में यह दो पंखों पर उड़ता है : 1. नयवाद का सिद्धान्त एवं 2. सापेक्ष कथन सिद्धान्त।

सापेक्ष कथन सिद्धान्त के परिमाणात्मक अध्ययन को प्रेरित करने के लिये हाल्डेन (1957) का लेख देखिये। इसमें यह बताया गया है कि हम इस सिद्धान्त को पावलोव के शिक्षण-सम्बन्धी प्रयोगों में कैसे अनुप्रयुक्त कर सकते हैं ? मरडिया (1975, 1988) ने कुछ अन्य पक्षों का संकेत दिया है जिनमें कार्ल पॉपर (1968) और जैन तर्कशास्त्र के सम्बन्ध भी समाहित हैं। कार्ल पॉपर ने तो यह बताया है कि हम पूर्णतः सत्य वैज्ञानिक नियमों को नहीं जान सकते। इस विषय के विस्तृत निरूपण के लिये, कृपया टाटिया की पुस्तक (1984) देखिये। जैन पंचपदी के लिये, जे. एल. जैनी (1916) की

पुस्तक देखिये। जैन दृष्टिकोणों पर हम महलनोबिस (1954) के निम्न उद्धरण के साथ इस अध्याय का समापन करते हैं :

“अंत में, मैं जैन दर्शन के वास्तविक और बहुतत्त्ववादी दृष्टिकोणों के प्रति आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, जहाँ वस्तु-तत्त्व के बहुरूप और अनंततः विविध पक्षों पर अविरत महत्त्व दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि विश्व के सम्बन्ध में जैनों का स्पष्ट दृष्टिकोण है जहाँ निरंतर परिवर्तनशीलता एवं अन्वेषणशीलता के लिये बहुत अवसर है।”

9.6 पारिभाषिक शब्दावली :

अनेकांतवाद : जैनों का समग्रवादी या सापेक्षवादी सिद्धान्त

स्याद्वाद	=	सापेक्ष कथन सिद्धान्त
नयवाद	=	विविध दृष्टिकोणों का सिद्धान्त
प्रमाण	=	ज्ञान की प्राप्ति के अंग/व्यापक सम्यक्-ज्ञान
निक्षेप	=	शब्दों के अर्थ या आशय के आधार पर वर्गीकरण
सप्तभंगी नय	=	सप्त-अवयवी सापेक्ष कथन
स्यादस्ति	=	किसी अपेक्षा से, यह है।
स्यान्नास्ति	=	किसी अपेक्षा से, यह नहीं है।
स्यादस्ति-नास्ति	=	किसी अपेक्षा से, यह है और यह नहीं भी है।
स्यादवक्तव्य	=	किसी अपेक्षा से, यह वचनगोचर नहीं है।
स्यादस्ति-अवक्तव्य	=	किसी अपेक्षा से यह है और यह अवक्तव्य है।
स्यान्नास्ति-अवक्तव्य	=	किसी अपेक्षा से यह नहीं है और यह अवक्तव्य है।
स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य	=	किसी अपेक्षा से, यह है, यह नहीं है और यह अवक्तव्य है।
स्यात्	=	किसी अपेक्षा से
अवक्तव्य	=	अव्याख्येय, वचन से अगोचर
ज्ञान	:	जानना
मतिज्ञान	:	अनुमानित/आनुभविक इंद्रिय-मन-आधारित ज्ञान
श्रुतज्ञान	:	शब्द-युक्त/मौखिक या आगमिक ज्ञान
अवधिज्ञान	:	सीमित ज्ञान
मनःपर्यव ज्ञान	:	मनों-विचारों का ज्ञान
केवलज्ञान	:	अनंत ज्ञान/सर्वज्ञता

अध्याय 10

जैन धर्म और आधुनिक विज्ञान

10.1 अनुरूपतायें या उपमायें

जैन धर्म को मात्र एक 'धर्म' कहना सही नहीं है, क्योंकि यह 'जीव और अजीव' वस्तुओं से व्याप्त समस्त विश्व की व्याख्या के लिये एकीकृत वैज्ञानिक आधार देने का प्रयत्न करता है। इस तरह, यह एक समग्र विज्ञान है जो धर्म सहित सभी वस्तुओं एवं घटनाओं को समाहित करता है। इस युग में विज्ञान के महत्त्वपूर्ण योगदान और उसके समानांतर जैन-मान्यतायें आगे दी जा रही हैं (मरडिया, 1988 ब)। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि नीचे दिये गये विवरण से यह स्पष्ट है कि जैन विज्ञान मुख्यतः गुणात्मक है। फिर भी, जैन विज्ञान अनेक प्रकरणों में आधुनिक विज्ञान से भी आगे बढ़ जाता है, लेकिन उनमें शायद ही कभी कोई विरोध प्रतीत होता है।

(1) कण-भौतिकी और क्वांटम सिद्धांत

यह केवल इसी सदी की बात है कि (यंत्र) प्रौद्योगिकी में इतनी प्रगति हुई है जिसके माध्यम से परमाणु-प्रक्रम और मौलिक/प्राथमिक कणों का अध्ययन किया जा सके और उनके विषय में जानकारी की जा सके। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैनों ने परमाणु-सम्बन्धी विचारों को कार्मन-कणों की धारणा के विकास के माध्यम से एक कदम आगे बढ़ाया है। यह बात विवादग्रस्त हो सकती है कि ये कार्मन कण हैं या नहीं? लेकिन यह एक रोचक तथ्य है कि स्वयं-नियंत्रित जगत और इसमें विद्यमान जीवन की व्याख्या में ये कण अच्छी तरह समायोजित होते हैं।

क्वांटम-सिद्धांत तो बहुत कुछ प्रायिक या संभावनात्मक है। कुछ प्रकरणों में तो यह जैनों के सापेक्ष कथनों के सिद्धान्त के अति समीप आ जाता है। (देखिये, अध्याय 9)। यह सिद्धान्त अंशतः एक संभावनात्मक सिद्धान्त है जो विज्ञान के लघुकरण-सिद्धान्त से सम्बन्धित है। जैनों का अनेकांतवाद का सिद्धान्त इस सिद्धान्त का पूरक है (अध्याय 9 देखिये)। वर्तमान में, विज्ञान उपरोक्त दो सिद्धान्तों के बीच परिवर्तित हो रहा है। तथापि, ये दावे भी किये जा रहे हैं कि विश्व ऐसे तत्त्वों से बना है जिनका अस्तित्व आत्मा (या मानव चेतना) पर निर्भर नहीं करता। ये दावे क्वांटम सिद्धांत के विरोध में जाते हैं और उन तथ्यों से भी मेल नहीं खाते जो प्रयोगों के आधार पर स्थापित हुए हैं। (देखिये डी. स्पगनेट, 1979)। फिर भी, ऐसे भी प्रयत्न किये जा रहे हैं कि क्वांटम सिद्धान्त के प्रादर्शों में चेतना का घटक भी समाहित किया जा सके (देखिये, जान, 1982)। क्वांटम

सिद्धान्त और वास्तविकता की प्रारंभिक जानकारी के लिये कृपया गामो (1965) और ग्रिबिन (1984) की पुस्तकों का अध्ययन कीजिये।

(2) विकासवाद

पूर्ववर्ती सदी के जीव विज्ञान की सबसे महान् सफलताओं में डार्विन के विकासवाद का सिद्धान्त भी एक है। यह एक रोचक और ध्यान देने योग्य बात है कि प्रत्येक प्राणी अपने कार्मिक घनत्व के माध्यम से विकासवाद से भी आगे चला जाता है और इस प्रकार वह सम्पूर्ण सृष्टि को समाहित करता है। यह सिद्धान्त जीवन के विकास के मौलिक प्रश्न के समाधान का व्यक्तिवादी क्रियाविधि के रूप में, प्रयत्न करता है। तथापि, यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि विकासवाद एक अनुत्क्रमणीय भौतिक प्रक्रम है और जैनों का कर्म—आधारित विकासवाद एक उत्परिवर्तनीय भौतिक एवं आध्यात्मिक प्रक्रम है।

(3) पदार्थ और ऊर्जा की विनिमयशीलता

एलबर्ट आइंस्टीन के अनेक क्रांतिकारी विचारों में एक यह दावा भी था कि पदार्थ ऊर्जा में और ऊर्जा पदार्थ में विनिमयित हो सकते हैं अर्थात् पदार्थ और ऊर्जा अन्योन्य—विनिमयी तत्त्व हैं। उनका प्रमुख समीकरण निम्न है :

$$\text{ऊर्जा} = \text{द्रव्यमान} \times \text{प्रकाश-वेग}^2$$

जैनों में यह धारणा सदियों से चली आ रही है। इस घटना के विवरण के लिये 'पुद्गल' शब्द का उपयोग किया गया है (अध्याय 4 देखिये)। साथ ही, इस शब्द में यह तथ्य स्पष्ट है कि पदार्थ और ऊर्जा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जैसा हम जानते हैं कि ग्रीक भाषा में इस घटना के विवरण के लिये कोई शब्द नहीं है, और इस प्रकार वहां इस प्रकार की वैज्ञानिक अभिव्यक्ति भी नहीं है। इस विषय में मात्र यही कहा जा सकता है कि इस गंभीर धारणा के लिये द्रव्यमान—ऊर्जा शब्द का उपयोग किया जाय।

(4) मूलभूत बल

वर्तमान में विज्ञान चार मूलभूत बलों को मानता है :

1. गुरुत्वीय
2. विद्युत—चुम्बकीय
3. दुर्बल न्यूक्लीय
4. प्रबल न्यूक्लीय

इस बात के प्रयत्न किये जा रहे हैं कि इन सभी बलों को केवल एक 'महाबल' के रूप में लघुकृत किया जाये। इस दृष्टि से जैनों के कर्म-बल या प्राण-संचारण बल की धारणा महत्त्वपूर्ण है जिसे एक अतिरिक्त बल के रूप में मानना चाहिये जो मन पर पदार्थ के प्रभाव के समान अनेक अ-भौतिक घटनाओं की व्याख्या कर सकता है। इसके विषय में अधिक अध्ययन की आवश्यकता है। यदि इस प्रकार के कर्म-बलों का अस्तित्व है, तो इस बल के घटक कण कार्मन होंगे जिनके गुण अति सूक्ष्म हैं, क्योंकि वे प्रत्येक सजीव द्रव्य में अवशोषित हो जाते हैं। इसी कारण उनकी पहचान बहुत कठिन हो जाती है।

चौथे अध्याय में हमने बताया है कि गति और स्थिति माध्यम के रूप में मान्य जैनों के दो द्रव्य-धर्म और अधर्म-द्रव्य गतिशील एवं स्थिर बल के रूप में माने जा सकते हैं जो आत्मा और पदार्थ में या उनके बीच अन्योन्यक्रिया (असमानगति) और साम्य (समान गति में ?) की व्याख्या करते हैं। यह उपरोक्त महाबल की धारणा का गुणात्मक रूप हो सकता है। जी. आर. जैन (1975) ने धर्म द्रव्य को अभौतिक आकाशीय ईथर और अधर्म द्रव्य को गुरुत्वीय एवं विद्युत-चुम्बकीय बल के एकीकृत बल के रूप में बताया है।

आगे के खंडों में हम इन्हीं बलों के विषय में विस्तृत विवेचन करेंगे।

10.2 आधुनिक कण-भौतिकी

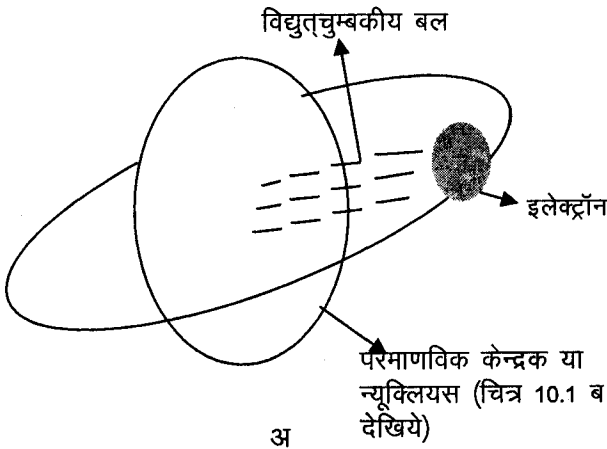
यह सुज्ञात है कि उन्नीसवीं सदी के अंत में जे. जे. थॉमसन ने इलेक्ट्रॉन की खोज की थी। इससे रासायनिक तत्त्वों के अन्य लघुतर घटकों-परमाणुओं के विषय में अन्वेषण की प्रेरणा मिली। यह लगभग 1910 के आसपास की बात है कि रदरफोर्ड और उसके साथियों ने सर्वप्रथम यह बताया कि परमाणुओं में इलेक्ट्रॉन और न्यूक्लियस (केन्द्रक) होते हैं। न्यूक्लियस में न्यूट्रॉन (उदासीन) और प्रोटॉन (धनाविष्ट) कण होते हैं जिन्हें संयुक्त रूप से न्यूक्लियॉन कहते हैं। यह सुज्ञात है कि इलेक्ट्रॉन ऋणावेशित कण है (आवेश = -1) और न्यूट्रॉन अनावेशित कण है अर्थात् वैद्युत दृष्टि से वे उदासीन हैं। किसी भी रासायनिक तत्त्व के परमाणु की संरचना का सरलतम उदाहरण हाइड्रोजन परमाणु प्रस्तुत करता है। तथापि, इसके समस्थानिकों में एक या दो न्यूट्रॉन हो सकते हैं, पर इस कारण इसके रासायनिक गुणों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। रासायनिक स्थायित्व के लिये इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉनों की संख्या सदैव बराबर होनी चाहिये।

1970 के दशक के प्रारम्भ में, परमाणु संरचना के सम्बन्ध में प्रबल परिवर्तन हुआ (चित्र 10.1 देखिये)। फलतः भौतिक कणों के तीन वर्ग माने जाते हैं :

क्वार्क, लेप्टॉन और गॉज बोसॉन

इनमें बोसॉन कण क्वार्क और लेप्टॉन के बीच सरस का काम करते हैं। क्वार्क और लेप्टॉन एक-दूसरे से भिन्न होते हैं क्योंकि क्वार्कों में भिन्नात्मक आवेश अर्थात् $2/3$, $1/3$, $-1/3$ और $-2/3$ - होता है और लेप्टॉन में शून्य या -1 का पूर्णांकी आवेश होता है। बोसॉन कण इन दोनों कणों से भिन्न होते हैं क्योंकि क्वार्क और लेप्टॉन का चक्रण $1/2$ होता है, जबकि बोसॉन का चक्रण 1 होता है। इलेक्ट्रॉन लेप्टॉन का एक उदाहरण है जिसका आवेश -1 होता है। इसके विपर्यास में, न्यूट्रिनो कण लेप्टॉन का एक अन्य उदाहरण है जिसका आवेश शून्य होता है।

क्वार्क दो या तीन कणों के गुच्छक के रूप में रहते हैं। प्रोटान में तीन क्वार्क कण पाये जाते हैं। जिन वर्गों में तीन क्वार्क पाये जाते हैं, उन्हें बेरिऑन कहते हैं और जिन वर्गों में कुछ विशिष्ट संगत परिस्थितियों में दो क्वार्क पाये जाते हैं, उन्हें मीसॉन कहते हैं। मीसॉनों में एक क्वार्क तथा एक प्रति-क्वार्क भी हो सकता है। मीसॉन का सरलतम उदाहरण धनावेशित पायोन है, जिसमें एक क्वार्क तथा एक प्रति-क्वार्क होता है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि इलेक्ट्रॉन के समान ही, क्वार्क पूर्ण बिंदु के रूप में माने जाते हैं जिनकी कोई विशेष रचना नहीं होती।

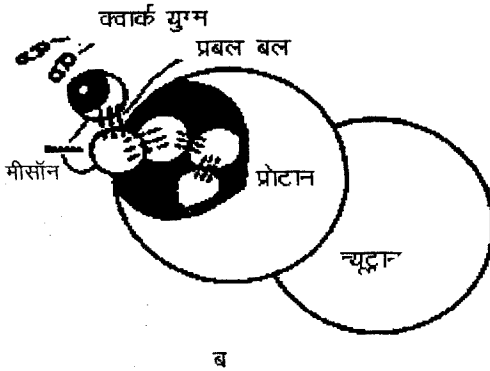


चित्र 10.1 (अ) हाइड्रोजन परमाणु जिसमें एक इलेक्ट्रॉन है, एक न्यूक्लियस है और प्रबल न्यूक्लीय बल है।

विभिन्न मौलिक कणों को विभेदित करने के लिये निम्न गुण काम आते हैं :

1. आवेश या अनावेश (वर्ण)
2. द्रव्यमान
3. चक्रण (प्राकृतिक या सहज कोणीय आवेग)
4. आयुष्य
5. बल (चार प्रकार के, देखिये, खंड 10.3)

यहां यह ध्यान में रखना चाहियें कि बेरिऑन का द्रव्यमान मौलिक



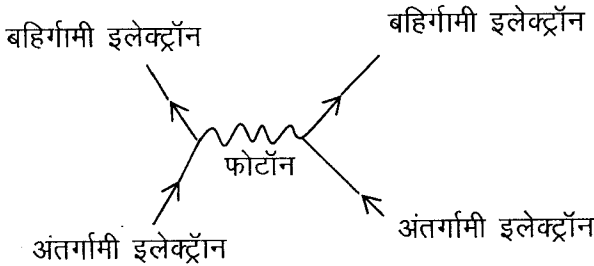
चित्र 10.1 (ब) हाइड्रोजन परमाणु के अव-परमाणुक कण : न्यूट्रॉन, और अपने मीसॉन और क्वार्क के साथ प्रोटॉन

कणों में सर्वाधिक है जबकि लेप्टॉनों का द्रव्यमान अल्पतम है। इसके विपर्यास में, बोसॉनों का द्रव्यमान इनका मध्यवर्ती होता है। क्वार्क में छः रस तथा तीन वर्ण होते हैं। यह वर्ण और रस का विवरण केवल प्रतीकात्मक ही है। उपरोक्त छह रसों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है u (up) और d (down) जो क्वार्क के सर्वाधिक हल्के युगल में पाये जाते हैं। यदि 'u' अप-क्वार्क का प्रतीक है और 'd' डाउन क्वार्क का प्रतीक है, तो किसी भी प्रति-कण के लिये अनुरूपी संकेत "ū" या "d̄" होगा। इस प्रकार, एक धनावेशित पायोन या तो ud होगा या ūd होगा। क्वार्क में पाये जाने वाले तीन वर्ण निम्न हैं: लाल, हरा और नीला। इन तीनों को 'वैद्युत वर्ण' कहते हैं।

10.3. प्रकृति में विद्यमान चार बल

प्रकृति में विद्यमान चार मूलभूत बल निम्न हैं : 1. गुरुत्वीय बल
2. विद्युत्-चुम्बकीय बल 3. दुर्बल न्यूक्लीय बल 4. प्रबल न्यूक्लीय बल

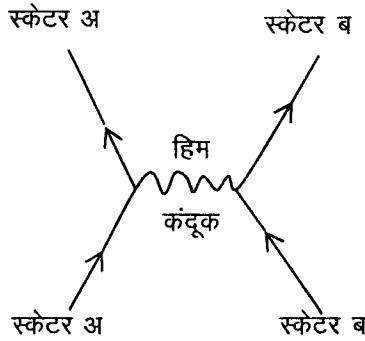
ये सभी बल गॉज बोसॉनों के माध्यम से अपना कार्य करते हैं। विभिन्न कण गॉज बोसॉनों के माध्यम से उसी प्रकार अन्योन्य-क्रिया करते हैं जैसे दो स्केटरों (बर्फ पर खेलने का खेल) के बीच हिम-कंदुक (बर्फ की गेंद) का विनिमय होता है। उदाहरणार्थ, किन्ही भी दो इलेक्ट्रॉनों (स्केटरों) के लिये, फोटॉन (हिम-कंदुक) एक इलेक्ट्रॉन को यह बताता है कि दूसरा इलेक्ट्रॉन कहां है और फिर उसे अनुक्रिया के लिये प्रेरित करता है। यह विद्युत्-चुम्बकीय बल है (चित्र 10.2 अ देखिये)। जब दो स्केटरों, (मान लीजिये कि वे अ और ब हैं, चित्र 10.2 ब) में से एक अ दूसरे स्केटर ब की ओर हिम-कंदुक (फोटॉन) उत्सर्जित करता है और स्वयं प्रतिक्षिप्त (दुर्बल न्यूक्लीय बल) हो जाता है। तब हिम-कंदुक विच्छेदित होता है या अवशोषित होता है। ये सभी फेनमैन के रेखाचित्र कहलाते हैं।



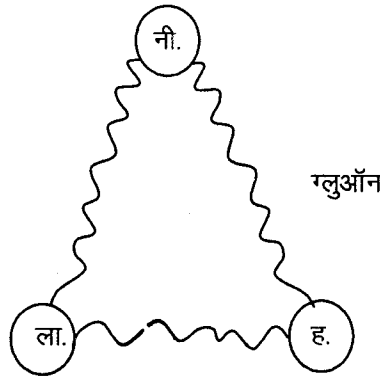
चित्र 10.2 अ दो इलेक्ट्रॉन एवं उनके क्रमिक पथ : विद्युत् चुम्बकीय बल गॉज बोसॉन 'फोटॉन' के साथ। (टेढ़ी-मेढ़ी रेखा)

यहां यह स्मरण रखना कि परमाणुओं के न्यूक्लियस में प्रोटॉन और न्यूट्रॉन के बीच कार्यकारी बल प्रबल न्यूक्लीय बल है (देखिये, चित्र 10.1)। यह प्रबल न्यूक्लीय बल रंगीन ग्लुऑनों के माध्यम से बेरिऑन के मध्य कार्यकारी होता है (चित्र 10.3 देखिये)। ये बेरिऑन कण इस प्रबल बल का अनुभव करते हैं जबकि लेप्टॉन इस बल का अनुभव नहीं करते, क्योंकि उनमें कोई वर्ण ही नहीं होता। शक्तिशाली क्वार्क ग्लुऑनों को विकसित करते हैं और जैसे ही वे विसर्जित होते हैं, उन्हें अपना वर्ण उदासीन करना होता है। इस कार्य को वे अन्य दृश्य कणों, मुख्यतः मीसानों के माध्यम से

अपनी ऊर्जा में परिवर्तित कर करते हैं। रेडियो-धर्मिता के गुण में दुर्बल न्यूक्लीय बल समाहित होता है। यहां क्रमशः विद्युत आवेशित एवं उदासीन कणों के लिये, कण Z और (W^+, W^-) दुर्बल न्यूक्लीय बल के गॉज बोसॉन है (देखिये, चित्र 10.4)। गुरुत्वीय बल (देखिये चित्र 10.5) सभी बलों में दुर्बलतम होता है। यह पदार्थ के पिंड को एक साथ बनाये रखता है लेकिन कणों के द्वारा गुरुत्व या ग्रेविटॉन के संचारण के लिए साक्ष्य अत्यंत ही सीमित होता है।



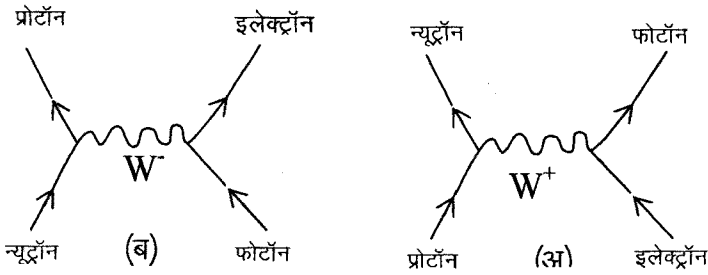
चित्र 10.2 ब : हिम-कंदूक का विनिमय करते हुए दो स्केटर



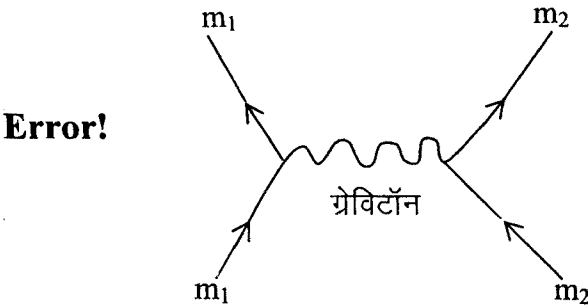
चित्र 10.3 अपने क्वार्कों के साथ बेरिऑन (वृत्तों में लाल -ला; हरा -ह., नीला -नी.) और गॉज बोसॉनों - ग्लुऑनों (टेढी-मेढी रेखायें) के साथ प्रबल न्यूक्लीय बल

इन चार प्राकृतिक बलों की सूची में हम कर्म-बल को भी जोड़ सकते हैं। कर्म-क्षेत्र भी अभौतिक प्रभावकारी क्षेत्र होते हैं जो आकाश-व्यापी

होते हैं और काल की दृष्टि से अविरत रहते हैं। लेकिन ये क्षेत्र जीव और अजीव अर्थात् आत्मा और कार्मन के बीच अन्योन्य-क्रिया को अनुमति देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कर्म बलों के संचालन के लिये आत्मा और कार्मन के बीच अन्योन्यक्रिया के लिये बोसॉन की तरह काम करने वाले कण 'कषाय' हैं (जो कार्मिक विकिरण के एक रूप हैं)। ये कषायें ही कर्म-बंध कराती हैं। इनके विपर्यास में, नो-कषायों (बल-कवच) की उपस्थिति में केवल कार्मन-विकिरण (चित्र 10.6 देखिये) होता है, कर्म-बंध नहीं। हम इन दो प्रकार के बोसॉनों को क्रमशः 'पैसिओनो और 'ए-पैसिओनो' कह सकते हैं। एक दूसरे स्तर पर (एस. के. जैन का लेख, 1980), मृत्यु के समय विद्युत चुम्बकीय प्रकृति की तरंगों के रूप में उत्सर्जित ऊर्जा के रूप में मुक्त तेजोबल (तैजस संपुट), संभवतः पुनर्जन्म के चक्रों की व्याख्या कर सके। इस प्रकार, यह तत्काल ही सुदूर गमन कर सकता है और विशिष्ट संकेतों

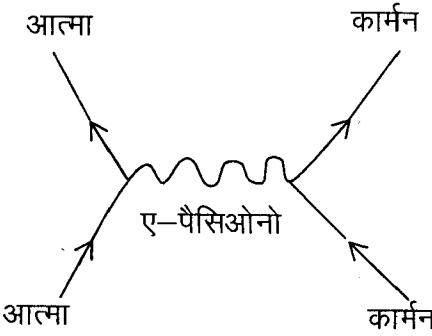
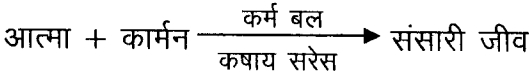


चित्र 10.4 दुर्बल बल : (अ) न्यूट्रॉन और फोटॉन W^+ को विनिमय करते हुए; (ब) प्रोटॉन और इलेक्ट्रॉन W^- को विनिमय करते हुए



चित्र 10.5 दो मीसॉनों (m_1, m_2) के बीच गुरुत्वीय बल और ग्रेविटॉन

या कर्म-शरीर को साथ में ले जा सकता है। उदाहरणार्थ, कार्मिक शरीर (जायगोट, युग्मनज नव-गर्भित) माता-पिता की दो कोशिकाओं के संयोग से उत्पन्न सर्वप्रथम कोशिका है। इससे संबद्ध और व्याप्त कर्म-शरीर फेरोमोनो (पशुओं द्वारा उत्पादित व्यक्तिगत लक्षणों के धारक रासायनिक घटक) आदि को वाहित कर सकता है। युग्मनजों द्वारा गृहीत ऊर्जा डी.एन.ए (जीवन का वंशानुगत कूट) में पूर्व-निर्धारित परिवर्तनों को प्रेरित कर सकती है। इस विषय के लिये और भी गंभीर अध्ययन की आवश्यकता है। इस विवरण का संक्षेपण निम्न है :



चित्र 10.6 बोसॉन के रूप में कार्यकारी 'ए-पैसिनो' के साथ कार्मिक बल

10.4 कुछ और उपमायें

जी. आर. जैन (1975) और जवेरी (1975) ने जैन और आधुनिक कण-भौतिकी के मध्य अनेक समानतायें बताई हैं।

जैनों के द्वारा प्रस्तावित परमाणुओं (चरम कणों) के पांच प्रमुख गुणों को वर्तमान भौतिकी के निम्न गुणों के समतुल्य माना जा सकता है, यद्यपि यह तुलना किञ्चित् स्वैच्छिक ही होगी :

1. पांच वर्ण क्वार्क के तीन आवेश – वर्ण + सफेद और काले वर्ण के रूप में ऋणात्मक व धनात्मक— दो आवेश
2. पांच रस लेप्टॉन और क्वार्क के रस, (क्वार्क का छठवां रस अभी तक पहिचाना नहीं जा सका)।
3. दो गंध चक्रण 1 और 1/2
4. आठ स्पर्श
 1. स्पर्श—गोचरता – गॉज बोसॉन;
जी. आर. जैन इस गुण को ऋण एवं धन आवेशों के रूप में अभिज्ञात करते हैं।
 2. तापमान : विकिरण
 3. इंद्रिय या स्पर्श—गोचरता की तीव्रता = ऊर्जा स्तर (परमाणुओं के संयोग के नियम खंड 4.5 में दिये गये हैं। ये नियम पाउली के अपवर्जन नियम के समान हैं।)
5. चरम कण दो कार्य परमाणु और कारण परमाणु = कण और प्रतिकण प्रकार के होते हैं : (जी.आर. जैन इन कणों को क्रमशः इलेक्ट्रॉन और पोजिट्रॉन कणों के रूप में अभिज्ञात करते हैं।

इस सम्बन्ध में कुछ अन्य समीक्षायेँ निम्न हैं :

1. कुछ प्रकरणों में चरम कण (परमाणु) का कणिका के रूप में व्यवहार करते हैं और कुछ प्रकरणों में ऊर्जा (तरंग) के रूप में।
2. चरम कणों की गति और अवस्था से सम्बन्धित गुण प्रायिक होते हैं और हाइसेनबर्ग के अनिश्चायकता के सिद्धान्त को प्रतिबिम्बित करते हैं।
3. चरम कणों को गतिमान अवस्था में न तो कोई बाधित कर सकता है और न ही उनकी गति अवरुद्ध हो सकती है। यह नियम उनके स्कंध रूप में होने पर लागू नहीं होता। इस प्रकार चरम कण न्यूट्रिनो (या संभवतः टेकियोन) के समान होता है जिनकी गति फोटान से अधिक होती है।

उपरोक्त चार प्राकृतिक बलों के अनुरूप चार प्रकार के क्षेत्रों के अतिरिक्त शैल्ड्रेक (1981) ने आकृतिगत अनुनाद के अनुरूप 'आकृतिक क्षेत्र' (मोर्फिक फील्ड) का सिद्धान्त भी प्रस्तावित किया है।

जैन विज्ञान कर्म—क्षेत्र पर विश्वास करता है। इसमें काल और आकाश के चार सामान्य आयाम हैं। लेकिन कुछ नवीन सापेक्षतावाद के

सिद्धान्तों में द्रव्यमान का पाँचवाँ आयाम भी आवश्यक माना जाता है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि जैनों के 'प्रदेश' या 'आकाश-प्रदेश' की परिभाषा के अंतर्गत इसे एक बिंदु माना जाता है जिसका आयाम होता है, चाहे वह कितना ही अल्प क्यों न हो। यही नहीं, विश्व में पाये जाने वाले समस्त चरम कण इस बिंदु में अधिष्ठित हो सकते हैं। (देखियें, बाशम, 1953 पेज 77-78)। इस प्रकार जैनों के सिद्धान्त में वृहत्-धमाका (बिग बेंग सिद्धान्त) का संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त, बाशम (बाशम, 1953 पेज 78) एक गाथा उद्धृत करते हैं जिसका आशय निम्न है : "आयामीय बिंदुओं" का संकुल समतलीय है जबकि उन बिंदुओं का संकुल ऊर्ध्वाधर होता है जिनका कार्य समय के आधार पर लक्षणित किया जाता है।" इस प्रकार काल चौथा आयाम है।

आधुनिक भौतिकी के वर्तमान विद्वानों में स्टीफेन हॉकिंग का नाम प्रमुख है। उन्होंने इस मत को तर्क पर आधारित बताया है कि 1. विश्व का न तो आदि है और न अंत हैं, (देखिये, हॉकिंग 1988 पेज 116)। उनका यह मत अध्याय 6.4 में वर्णित जैन विश्व-चक्रों के आधार का संकेत देता है। साथ ही, उनका विश्व की सीमितता का दावा भी जैनों की विश्व-सम्बन्धी धारणा में निहित है। कृष्ण विवर (ब्लेक होल) की धारणा, खंड 4.4 में सांकेतिक मोक्ष की धारणा से समानता प्रदर्शित करती है। अधिष्ठित और अनधिष्ठित आकाश (लोकाकाश और अलोकाकाश) की सीमायें भी घटना-क्षेत्र (इवेंट होराइजन) से साम्य रखती हैं जो कृष्ण विवर की सीमा के लिये प्रयुक्त होता है (देखिये, हॉकिंग, 1988 पेज 89)। फिर भी, कोई कृष्ण विवर में जाने की अपेक्षा मोक्ष जाना अधिक पसंद करेगा। जैन विज्ञान में विचारों को भी कणिकामय माना गया है।

10.5 उपसंहारी टिप्पणी

आधुनिक विज्ञान इस समय एक किण्वन की अवस्था में चल रहा है और सदैव पदार्थ और क्षेत्र से सम्बन्धित बिल्कुल नवीन धारणायें सामने आ रही हैं। जिन पाठकों को 'विज्ञान और धर्म' से सम्बन्धित विषयों में रुचि है, उन्हें डेविस (1983) और खुर्शीद (1987) का लेख पढना चाहिये। हम इस समय आइंस्टीन (1940,1941) के कुछ मतों को अपने उपसंहार में देना चाहते हैं। सर्वप्रथम, उनकी धर्म-सम्बन्धी धारणा जैन मत के लगभग समान ही है :

“कोई व्यक्ति, जो धार्मिक दृष्टि से प्रबुद्ध है, मुझे ऐसा लगता है जैसे उसने अपनी उत्तम योग्यता से स्वयं को अपनी स्वार्थी आकांक्षाओं की बेड़ियों से मुक्त कर लिया हो।”

उनका विज्ञान और धर्म के प्रति दृष्टिकोण भी ध्यान देने योग्य है (आइंस्टीन, 1940,1941)

“इस बात की संभावना में विश्वास उत्पन्न होता है कि अपने अस्तित्व के संसार के लिये मान्य नियम तर्क संगत हैं। ये नियम तर्क के द्वारा समझे जा सकते हैं। मैं उस व्यक्ति को यथार्थ वैज्ञानिक नहीं मान सकता जिसे इस पर गहन विश्वास न हो। इस स्थिति को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता है :

“धर्म के बिना विज्ञान पंगु है :
विज्ञान के बिना धर्म अंधा है।”



उपसंहार

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के बाद लेखक को इस पुस्तक की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में अनेक सामान्य और विशेष संगोष्ठियों में भाग लेने का अवसर मिला है। इन व्याख्यानों ने मुझे यह अवसर प्रदान किया कि इस पुस्तक में प्रस्तुत मुख्य धारणाओं को एक एकल संगोष्ठी में प्रस्तुत करने का आधार बनाया जाय। इसके अनुरूप ही यहां हम इसका सार मात्र (मरडिया, 1991) दे रहे हैं जो नयी पीढ़ी के लिये, विशेषतः, उपयोगी होगा। अपने ज्ञान के संवर्धन के लिये सद्यः-प्रकाशित पुस्तकों - एल. एम. सिंघवी (1991), अतुल शाह (1990) और माइकेल टोबायास (1991)- को पढ़ने के लिये मेरी अनुशंसा होगी।

1. कार्मन कण और कर्मों का व्यक्तिगत कंप्यूटर (संगणक)

आइन्स्टीन ने कहा है,

" विज्ञान के बिना धर्म अंधा है
और धर्म के बिना विज्ञान पंगु है"

इस दृष्टि से जैनधर्म धर्म होने के साथ विज्ञान भी है। जैनधर्म का प्रत्येक पक्ष विश्व और उसमें विद्यमान जीव और अजीव वस्तुओं के परिज्ञान पर आधारित है। आधुनिक विज्ञान सत्य के अंश का प्रकाशन करता है। यह पदार्थ को बलों और लघुतर कणों के रूप में व्याख्यायित करता है। इलेक्ट्रॉनों के माध्यम से विद्युत हमारे निवास कक्ष को प्रकाशित करती है, विद्युत चुम्बकीय बलों के माध्यम से रेडियो तरंगें लाउडस्पीकर की ध्वनि को उत्पन्न करती हैं। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैनधर्म भी ऐसे ही अदृश्य लघुतर कणों और आत्मा की अन्त्योन्यक्रिया के माध्यम से जीवन को व्याख्यायित करता है। जैनों के लघुतर कण कर्म-कण या कार्मन-कण (ऐसे कण जिनमें कर्म-रूप धारण करने की क्षमता होती है) हैं। ये कर्म कर्म-बल का निर्माण करते हैं। हम अपनी विभिन्न प्रकार की क्रियाओं द्वारा इन कार्मन-कणों का निरंतर अवशोषण (आस्रव) करते रहते हैं और इनमें से कुछ को उनके प्रभाव के संपन्न होने के बाद निर्गमित करते रहते हैं। इस प्रकार, आत्मा के साथ एक कार्मिक कंप्यूटर लगा हुआ है। यह व्यक्तिगत कार्मिक कंप्यूटर कर्मों के अवशोषण एवं निर्गमन का सारा अभिलेख रखता है। यही नहीं, यह पूर्वजन्म के समान पुराने अभिलेखों के आधार पर कुछ कर्तव्य और दिशाओं का भी निर्देशन करता है। उदाहरणार्थ, आपके कार्मिक कंप्यूटर में आपको इस पुस्तक के पढ़ने का संदेश है या जैनधर्म के विषय में सोचने-विचारने का संदेश है। यह एक अच्छी क्रिया है, फलतः आत्मा सकारात्मक कार्मनों या शुभ कर्मों का अवशोषण करता है। इन

शुभ कर्मों से पुण्योदय होता है। यही नहीं, सकारात्मक कार्मनों का अवशोषण नकारात्मक कार्मन-अवशोषणों (के प्रभाव को) को कम करता है, फलतः, संसारी आत्मा की शुद्धि बढ़ जाती है। इस प्रकार कर्म पुद्गल और आत्मा एक न्यूक्लीय अभिकारक की कोटि का कार्मिक अभिकारक बनाते हैं और इससे उत्सर्जित प्रबल ऊर्जा आत्मा के शुद्धिकरण की प्रक्रिया के समान है

न्यूक्लियस + न्यूक्लियस $\xrightarrow{\text{अभिक्रिया}}$ विद्युत की ऊर्जा
 आत्मा + कर्म \longrightarrow ऊर्जा \longrightarrow आत्मा की शुद्धि

इन क्रियाओं को निरूपित करने के लिये जैन धर्म में बंध (कर्म-बंध), आस्रव (कर्म-बल अवशोषण) आदि शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। जिस प्रकार आधुनिक भौतिकी का आधार विभिन्न प्रकार के बल हैं, उसी प्रकार जैनधर्म का आधार भी कर्म-बल है। जिस प्रकार आधुनिक विज्ञान पदार्थ और ऊर्जा की अन्योन्य-परिवर्तनीयता में विश्वास करता है, उसी प्रकार कर्म-पुद्गल और आत्मा के बीच भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। इस द्रव्यमान और ऊर्जा की समकक्षता के लिये जैनों ने पुद्गल शब्द (पुद्-संयोजन, गल-वियोजन) का उपयोग किया है। आधुनिक विज्ञान में इस प्रकार की धारणा के लिये ऐसा कोई शब्द नहीं है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान की शब्दावली यूनानी या लेटिन भाषा से उद्गमित है।

2. कर्म-बंध और शाकाहार

हमारा लक्ष्य इन कार्मन कर्णों के अन्तर्ग्रहण की मात्रा को अल्पीकृत करना है। यह एक महत्त्वपूर्ण कारण है जिससे शाकाहार जैन-जीवन का एक अनिवार्य अंग बना है। जैन लोग प्याज वगैरह (कंदमूल) नहीं खाते, पर वे भूमि पर उत्पन्न होने वाले सेव-जैसे फल आदि खाते हैं। आप इस प्रवृत्ति का कारण समझने पर आश्चर्यचकित हो जायेंगे। जैनों द्वारा यह कारण दिया जाता है कि सेव की तुलना में प्याज में जीवन की इकाइयां अधिक होती हैं। सेव के एक पेड़ से अनेक सेव प्राप्त होते हैं, लेकिन एक प्याज से केवल एक ही प्याज मिलता है। इस प्रकार प्याज में सेव की अपेक्षा जीवन की इकाइयां अधिक होती हैं। फलतः, प्याज के खाने से, सेवों की तुलना में, अधिक कार्मनों का अंतर्ग्रहण होता है। इस धारणा को अन्य खाद्यों पर भी लागू किया जा सकता है। इस प्रकार, जैन लोग अति कठोरता से शाकाहार का पालन करते हैं। वे लोग मांस, मछली और अंडे भी नहीं खाते। वे अपने को अन्न, भूमि पर उगनेवाली शाकें एवं दुग्ध उत्पादों तक ही सीमित रखते हैं।

3. कार्मन-कण और ज्ञान का आवरण

अपने विचारों में बुद्धि-संगतता लाने के लिये हमें जैन तर्कशास्त्र की परख करनी चाहिये। जैन सापेक्ष कथन (स्याद्वाद) के सिद्धान्त में विश्वास करता है, जिससे प्रत्येक वस्तु-स्वरूप विशिष्ट समय पर होने वाले हमारे ज्ञान पर आधारित होता है और जब तक आत्मा 'पूर्णता को प्राप्त नहीं होता' अर्थात् उसमें जैनत्व का गुण पूर्णतः विकसित नहीं होता, हमारा ज्ञान यथार्थ नहीं होता। कर्म-पुद्गलों से संबद्ध आत्मा पेट्रोल की तुलना में अपरिष्कृत कच्चे तेल के समान है। यह कच्चा तेल जितना परिष्कृत होगा, आत्मा की शुद्धि और सामर्थ्य भी उतना ही अधिक होगा।

जैनधर्म में विचारों में अनेकांतवाद के अनुसरण की अनुशंसा की गई है। यह सिद्धान्त वैज्ञानिक अन्वेषण में भी स्पष्टतः प्रयुक्त होता है। उदाहरणार्थ, कुछ समय पूर्व लघुतम कण प्रोटॉन था, लेकिन आज यह क्वार्क है, इत्यादि।

इसके साथ ही, जैन तर्कशास्त्र यह भी बतलाता है कि हमें अपने विचारों में अनेकांतवाद के समग्र सिद्धान्त के आधार पर सापेक्षवादी होना चाहिये। इस दृष्टि से पूर्व में दिये गये छः अंधे और हाथी का उदाहरण ध्यान में दीजिये। जो व्यक्ति हाथी की पूंछ को छूता है, वह हाथी को रस्सी के समान कहता है। हाथी के पैर छूनेवाला उसे एक खंभे के समान कहता है। इस प्रकार जो जैसा अनुभव करता है, वह वैसा ही बताता है। वस्तुतः, व्यक्ति को यह चाहिये कि वह जीवन और पदार्थ के सभी पक्षों की ओर देखे। हाथी और अंधे की इस कहानी को जे. जी. साक्स (1816-77) ने अपनी एक कविता के माध्यम से पश्चिम में लोकप्रियता प्रदान की थी।

4. (संसारी) आत्मा के शुद्धिकरण का मार्ग

संक्षेप में, जैन धर्म के अनुसार, काल, आकाश, जीव और अजीव (पुद्गल) द्रव्य सदैव वर्तमान रहते हैं और सदैव रहेंगे। इसी प्रकार विश्व स्वचालित एवं स्व-नियंत्रित है। जब तक कार्मन पूर्णतः निर्झरित न हो जाये, जीवन मुख्यतः कार्मनों से ही नियंत्रित होता है। ये कार्मन कैसे निर्झरित हो सकते हैं ? इसके लिये ही आत्मा के शुद्धिकरण का मार्ग निर्देशित किया गया है। यह मार्ग सरल नहीं है, क्योंकि जैन धर्म यह विश्वास करता है कि आत्मा के साथ संलग्न कर्म-पुद्गल (समय के पूर्व) केवल तपस्या से ही निर्झरित होते हैं, अन्यथा, व्यक्तिगत कार्मिक कंप्यूटर अपना काम करता ही रहेगा। यह आसक्ति की तुलना में आत्म-संयम का मार्ग निर्देशित करता है। जब आइन्स्टीन ने धर्म के सम्बन्ध में अपनी धारणा परिभाषित की, तब उसने कहा :

“जो व्यक्ति धार्मिक दृष्टि से प्रबुद्ध होता है, वह, मुझे ऐसा लगता है, जैसे उसने अपनी योग्यतानुसार स्वयं को स्वार्थ-प्रेरित आकांक्षाओं की बेड़ियों से मुक्त कर लिया है।”

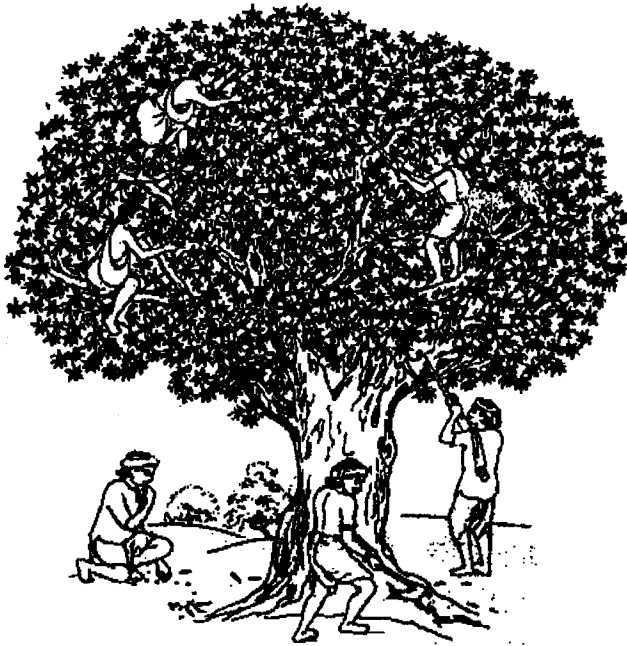
वास्तव में यह जैनधर्म की ही परिभाषा है।

5. आत्म-संयम एवं पर्यावरण की समस्यायें

आत्म-शोधन सम्बन्धी निर्देशों में संतुलित जीवन जीने का प्रयत्न करना और कुछ सीमा तक व्रतों (विरतियों) और तपस्याओं का अभ्यास करना समाहित है जिससे व्यक्ति, विश्व और उसके साधनों पर अधिभार न पड़े। जैनों के अहिंसा के सिद्धान्त का निहितार्थ न केवल स्वयं के प्रति प्रीति करना ही है, अपितु सभी प्राणियों और मनुष्यों के प्रति अनुकम्पा की भावना भी है। यहां तक कि घरेलू जानवरों को भी, कभी-कभी छोड़कर, न रस्सी से और न कोड़ों से ही मारना चाहिये। जब ऐसा करना भी पड़े, तो समुचित विचार एवं बिना क्रोध के साथ दयालुता के साथ ऐसा करना चाहिये। संग्रह या परिग्रह और व्यक्तिगत भोग-विलास में आसक्ति की प्रवृत्ति को अल्पीकृत करना चाहिये और दान की प्रवृत्ति अपनानी चाहिये। सम्पत्ति और परिग्रह के प्रति राग और उसके एकत्र करने की इच्छा, मोह और मूर्च्छाकारक स्थिति है (मूर्च्छा परिग्रहः, तत्त्वार्थसूत्र 7.17)। जैनधर्म ने सामान्यतः व्यक्तिगत सम्पत्ति को ट्रस्टी के रूप में समाज कल्याण के लिये प्रबन्धित करने की प्रवृत्ति को प्रेरित किया है अर्थात् जैनधर्म ने सामाजिक सम्पत्ति की धारणा का आह्वान किया है। इस दृष्टि से सदैव सम्पूर्ण जागरूकता महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार एक मिनट के नकारात्मक विचार (अशुभ, पाप) असंयमित जीवन में भारी कार्मन कर्णों के अंतर्ग्रहण से बरवादी उत्पन्न कर सकते हैं, उसी प्रकार संयमित जीवन में एक मिनट के सकारात्मक विचार (पुण्य या शुभ) लघुतर कार्मन कर्णों के अन्तर्ग्रहण से स्थायी शांति और एकता को उत्पन्न करते हैं (देखिये, टोबायास, 1991, पेज 90)।

पर्यावरण के संरक्षण के महत्त्व को आत्मा के कार्मिक घनत्व के वर्ण-कूट या लेश्या के सिद्धान्त के माध्यम से निदर्शित किया गया है। इस वर्ण-कूट के छह क्रमिक स्तर हैं : कृष्ण, नील, कापोत, पीत, रक्त या कमल-गुलाबी और दीप्तिमान तैजस, शुक्ल। इनमें पहले तीन स्तर भारी कर्म-घनत्व (पाप) के प्रतीक हैं जबकि बाद के तीन स्तर लघुतर कार्मिक घनत्व के प्रतीक हैं। जे. एल जैनी (1916) ने इन स्तरों को मानव के आभा मंडल से सम्बन्धित किया है। व्यवहार में, एक पेड़ से फलों को प्राप्त करने की लोककथा की अनुरूपता के आधार पर इन रंगों के स्तर को वर्गीकृत किया गया है। प्रथम स्तर (कृष्ण) का व्यक्ति पेड़ के फलों को प्राप्त करने के लिये समूचे पेड़ को काट डालता है। दूसरे स्तर का व्यक्ति इसकी डालों

को काटता है, तीसरा व्यक्ति शाखाओं को काटता है, चौथे स्तर का व्यक्ति फलों के गुच्छों को तोड़ता है, पांचवे स्तर का व्यक्ति पेड़ पर लगे पके फलों को तोड़ता है और छठे स्तर का व्यक्ति पेड़ के नीचे जमीन पर पड़े पके फलों को ही बीन लेता है (देखिये चित्र उ.1)। इस प्रकार, उच्चतम आध्यात्मिक स्तर के व्यक्ति के लिये पर्यावरण संरक्षण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके साथ ही मल और प्रदूषण के उत्पन्न करने से भी कार्मनों के अंतर्ग्रहण में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि ये हिंसक प्रवृत्तियां मानी जाती हैं (सिंघवी, 1991)। वास्तव में पर्यावरण-संरक्षण की समस्या का समाधान

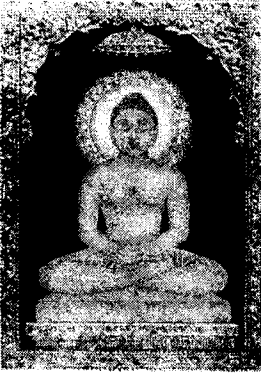


चित्र उ.1 लेश्याओं के निदर्शन के लिए आम का पेड़ और छह व्यक्ति

‘मधुमक्खी’ के उदाहरण से प्राप्त होता है जो पेड़ के फलों से, पेड़ को हानि पहुंचाये बिना ही, शहद को चूस लेती है और स्वयं को सशक्त बनाती है।

परिशिष्ट – 1

भगवान् महावीर का जीवन वृत्त



भ. महावीर का जन्म 599 ई०पू० में (क्षत्रिय) कुंडग्राम (वैशाली, बिहार, भारत) में हुआ था। उस समय यह उत्तर भारत में आधुनिक पटना नगर के पास ही एक बड़ा नगर था। उनके पिता राजा सिद्धार्थ थे और माता त्रिशला थीं। उनका सर्वप्रथम नाम 'वर्धमान' था। इसका कारण यह था कि जबसे उनकी मां गर्भवती हुई, तभी से राज्य में सभी प्रकार की सुख-समृद्धि होने लगी थी।

उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन में ही बौद्धिक विकास किया और पशुओं से घनिष्ठता स्थापित की। उन्होंने अपने बाल्यकाल में एक भयंकर सर्प को साहसपूर्वक वश में कर लिया था। उन्होंने एक मदोन्मत्त हाथी को भी वश में किया था जिससे वह जनधन को हानि न पहुंचा सके। उन्होंने एक आततायी पर भी विजय प्राप्त की। इसीलिये उनका नाम 'महावीर' (महान् बहादुर) रखा गया।

उन्हें लगभग निश्चित रूप से, तत्कालीन राजकुमारों के योग्य साहित्य, राजनीति, धनुर्विद्या, गणित आदि के समान विभिन्न कलाओं एवं विषयों का विशेष प्रशिक्षण दिया गया। वे बहुत बुद्धिमान थे। उनके गुरु ने भी यह माना था कि महावीर का ज्ञान उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

वे सामान्य रूप से ही राजकुमार के रूप में घर पर रहे। उनका विवाह यशोदा के साथ हुआ। (यह श्वेताम्बर परम्परा मानती है, पर दिगम्बरों के अनुसार, उनका विवाह नहीं हुआ था। उनकी प्रियदर्शना नाम की पुत्री थी, जिसका विवाह जामालि के साथ हुआ था)। एक परम्परा के अनुसार, जब वे 28 वर्ष के थे, तब राजमहल के बाहर पर्यटन पर गये। वहां उन्होंने देखा कि एक मालिक अपने दास को कोड़े मार रहा है। इस घटना से वे बड़े दुःखी हुए कि समाज के धनी व्यक्ति अशिक्षित, अज्ञानी और निर्धन व्यक्तियों का शोषण करते हैं। फलतः उनके मन में घर-बार छोड़ने की इच्छा जागृत हुई। लेकिन उनके मन में अपने माता-पिता के प्रति गहन स्नेह था। इसलिये उन्होंने यह विचार किया कि उनकी मृत्यु होने तक वे

गृहत्याग नहीं करेंगे। उनकी मृत्यु के बाद, वे लगभग दो वर्ष तक घर में ही रहे जिससे उनकी मृत्यु-पीड़ा से उनके बड़े भाई उबर सकें। इसके बाद, उन्होंने अपने बड़े भाई से गृह-त्याग की आज्ञा माँगी (दिगम्बर यह मानते हैं कि अपने मां-बाप के जीवित रहते ही वे साधु हो गये थे)। ऐसा माना जाता है कि राजमहल-निवास के इन अंतिम दो वर्षों में वे अपना अधिकांश समय राज कार्यों या सांसारिक कार्यों में बिताने के बदले आत्म-विश्लेषण में बिताते थे।

तीस वर्ष की अवस्था में, समाज में विद्यमान अनेक समस्याओं की जड़ के अन्वेषण के लिये उन्होंने गृहत्याग कर दिया। उन्होंने मानव की प्रकृति को तथा सामान्यतः जगत के स्वरूप को समझने के लिये वैराग्य धारण किया। यह स्पष्ट है कि राजमहल का वातावरण एवं उनका सामाजिक स्तर इस अन्वेषण के लिये उपयुक्त नहीं था।

प.1.1 लक्ष्य का अनुसरण और बोधि-प्राप्ति

दीक्षा लेने के बाद के साढ़े बारह वर्षों तक वे गहन मनोनिष्ठा के साथ अपने लक्ष्य के अन्वेषण में लगे रहे। उन्होंने अनुभव किया कि ध्यान की साधना में मिताहार, एक-वस्त्र धारण, पैदल विहार और उपवास सहायक हैं। इसी के अनुरूप, उन्होंने अपने हाथों से केश लुंचन करने जैसी क्रियाओं के माध्यम से अपनी (दूसरों पर निर्भरता के समान) आवश्यकताओं को अल्पीकृत किया। अपने लक्ष्य के प्रति उनकी एकाग्रता इतनी गहन थी कि जब तेरह माह की दीक्षा एवं त्याग के अभ्यास के समय उनका वस्त्र झाड़ी में फंस कर फट गया, तो उसके बाद वे नग्न अवस्था में ही रहे। (तथापि, दिगम्बर परम्परानुसार, उन्होंने दीक्षा के समय ही अपने सभी वस्त्रों का त्याग कर दिया था)।

उनके दीक्षावस्था की, अपने उद्देश्य के प्रति एकनिष्ठता को प्रदर्शित करने वाली एक अन्य घटना भी है। एक बार वे खड़े होकर (खड़गासन) किसी खेत में ध्यान कर रहे थे। उनके आसपास ही एक किसान की गायें चर रही थीं। किसान ने उन्हें देखकर कहा, "मैं अन्यत्र जा रहा हूँ। आप इन गायों को देखते रहिये।" चूंकि महावीर गहन ध्यान की मुद्रा में थे, उन्होंने यह भी नहीं देखा कि उनके आसपास गायें चर रही हैं। जब कुछ समय बाद किसान वहां आया, उसने देखा कि उसकी गायें वहां नहीं हैं। लौटकर उसने ध्यानस्थ महावीर से इस विषय में पूछा, पर उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया क्योंकि वे मौनव्रत लिये हुए थे। इससे किसान और भी व्यग्र हो गया और उसने महावीर को दंडित करने के लिये उनके कान में लकड़ी की दो कीलें ठोक दीं। लेकिन इससे भी महावीर का मौन नहीं टूट पाया और वे उसके प्रति अनुकम्पित ही बने रहे।

यह कहा जाता है कि महावीर तब तक एकल साधना करते रहे जब तक मंखलि गोशाल ने उन्हें खोज नहीं लिया। उसने महावीर के उत्कृष्ट गुणों के बारे में सुन रखा था। गोशाल एक परिव्राजक कथावाचक था और नियतिवादी आजीवक सम्प्रदाय का अनुयायी था। बाद में तो, वह इसका प्रमुख प्रवक्ता बन गया। यह कहा जाता है कि महावीर और गोशाल छह वर्ष तक एक साथ रहे। इतने समय में गोशाल महावीर से और उनकी क्षमताओं से पूरी तरह परिचित हो गया। महावीर ने उसे छह माह की तपस्या बताई जो उन-जैसी क्षमताओं को प्राप्त करने के लिये अनिवार्य थी।

अंत में गोशाल महावीर का विरोधी हो गया और उसने महावीर को ललकारा। उसने महावीर को भयभीत करने के लिये शाप दिया कि वे छह माह के अंदर ही किसी भयंकर बीमारी से मर जायेंगे। महावीर बीमार भी पड़े, पर वे स्वस्थ हो गये। कुछ समय बाद गोशाल की मृत्यु से यह धारणा बनी कि शाप उसी को डस गया। महावीर सदैव ही योगिक या ऐंद्रजातिक शक्तियों के उपयोग के विरोधी थे।

अंत में, महावीर ने अपने उद्देश्य के अन्वेषण हेतु ली गई दीक्षा के ठीक 12 वर्ष, 6 माह और 15 दिन बाद केवलज्ञान (सक्रिय सर्वज्ञता) प्राप्त किया। इस प्रकार वे समग्र रूप से विश्व की संरचना व क्रियाविधि और विशेष रूप से मानव की प्रकृति को समझने में समर्थ हों सके। इस अन्तर्ज्ञान से वे सभी प्रकार की समस्याओं के मूल का ज्ञान कर सके।

प.1.2 तीर्थकर के रूप में महावीर का जीवन

अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राजसी रूप को छोड़ने के बाद केवलज्ञान प्राप्त होने पर महावीर ने अपने ज्ञान को समाज में सहभागित करने की सोची। उनके समाज के सामने आने की घटना उनके लक्ष्य अन्वेषण से भी अधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपना सबसे पहला उपदेश ऐसे श्रोताओं को दिया जिनमें इंद्रभूति गौतम भी सम्मिलित थे। गौतम हिन्दू शास्त्रों के महान ज्ञाता थे और उन्हें अपने ज्ञान का अभिमान था। इन दोनों की भेंट के समय कुछ प्रश्नोत्तर हुए, जिनका समाधान पाकर गौतम इनके गणधर (प्रमुख शिष्य) बन गये। महावीर की अंतरंग सभा में ग्यारह गणधर थे। महावीर में प्रकृत्या ही महान् संगठन क्षमता थी और जब उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ी, तब उन्होंने चतुर्विध संघ (श्रावक, श्राविका, साधु और साध्वी) के रूप में 'तीर्थ' (संसार समुद्र को पार करने का माध्यम) की

स्थापना की। उनकी पुत्री प्रियदर्शना भी (जिसका विवाह जामालि के साथ हुआ था) महावीर की अनुयायी बनी।

तत्कालीन हिन्दू धर्म के प्रभाव से अपनी विचारधारा को विभेदित करने के लिये, उन्होंने नयी शब्दावली के विकास में बहुमुखी प्रतिभा प्रदर्शित की। उदाहरणार्थ, सामान्य अनुयायी को 'श्रावक' कहा गया जो श्रद्धा पूर्वक उपदेश सुनते हैं (श्र-श्रद्धा, व-विवेक, क-क्रिया)। उन्होंने साधुओं को 'श्रमण' कहा, अर्थात् जो आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिये श्रम करे। यही नहीं, उन्होंने दृढ़ता से जगत की स्व-चालितता की धारणा को पुष्ट किया अर्थात् उन्होंने उस ईश्वर की धारणा को निरस्त किया जो प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक जीवन को प्रभावित करता है। यही नहीं, उन्होंने यह भी घोषणा की कि "प्रत्येक व्यक्ति को निर्वाण प्राप्त करने का अधिकार है और वह अपने ही प्रयासों से, किसी परम प्रभु-सत्ता या माध्यस्थ पुरोहित की सहायता के बिना ही, इसे प्राप्त कर सकता है।"

महावीर ने सभी जीवों और मनुष्यों की समानता का प्रचार किया। इसके माध्यम से उन्होंने दासप्रथा, जातिप्रथा, पशुबलि आदि के त्याग का उपदेश दिया। वास्तव में, उनके साध्वी संघ की प्रमुख दासी चंदना ही थी। एक दूसरे सीमांत पर, तत्कालीन राजाओं में एक प्रमुख राजा श्रेणिक बिंबसार उनका निष्ठावान अनुयायी बन गया (देखिये, एच. एल. जैन और उपाध्ये, 1974)।

महावीर का एक क्रान्तिकारी योगदान यह था कि उन्होंने हिन्दुओं की इस धारणा में परिवर्तन किया कि संन्यासी या साधुओं का जीवन, जीवन के उत्तर भाग के पूर्व नहीं होना चाहिये। उन्होंने विचार प्रस्तुत किया कि सांसारिक कार्यों से निवृत्त होने के लिये कोई विशेष आयु या समय सीमा नहीं होती। जो लोग जीवन के प्रारम्भ काल में पूर्ण साधुता नहीं ग्रहण कर सकते, उनके लिये उन्होंने क्रमिक परिवर्तन का सुझाव दिया।

महावीर की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि वे सभी प्रकार के प्राणियों के प्रति करुणा के मूर्त रूप थे। इस सम्बन्ध में, चंडकौशिक नामक नाग का उदाहरण उद्धृत किया जाता है। यह नाग उसके यक्षायतन के सामने से जाने वाले रास्ते पर चलने वालों को रास्ता पार नहीं करने देता था। एक दिन महावीर उस रास्ते पर चले और उन्हें नाग ने काट लिया। लेकिन महावीर बड़े ज्ञानी थे। उन्होंने नाग के पूर्वभवों के ज्ञान के आधार पर यह जान लिया कि उसकी ऐसी प्रकृति कैसे बनी? उन्हें उसके प्रति अत्यंत

करुणा आयी। उनकी यह करुणा, किसी माता की पुत्र के प्रति करुणा के समान थी। ऐसा प्रतीत हुआ कि नाग के काटने से बने घाव से दुग्ध-धारा बह निकली हो। काटने की पीड़ा महावीर के लिये गौण हो गई और उनके मन में नाग के कल्याण की भावना प्रबल हो गई।

महावीर अपने निर्वाण काल तक रत्नत्रय की शिक्षा देते रहे और अभ्यास करते रहे। जैनों में आज भी उनके विभिन्न प्रकार के मूलभूत उपदेश और आचार प्रचलित हैं जिनमें समयानुसार साधारण परिवर्तन ही हुए हैं। विशेषतः, सभी जैन दीवाली (प्रकाश का उत्सव) मनाते हैं, क्योंकि इसी दिन महावीर को निर्वाण प्राप्त हुआ था और इसी दिन उनके प्रमुख शिष्य गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।



परिशिष्ट - 2

जैन आगम ग्रंथ (पवित्र धर्म ग्रंथ)

प्रत्येक धर्म पद्धति की आचार-विचार-संहिता होती है जिसे उसके संस्थापक अपने अनुभव व ज्ञान से संचरण और पालन की सुविधा के लिए, पवित्र ग्रंथों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रंथों को श्रुति, श्रुत या आगम कहते हैं। जैन धर्म भी इसका अपवाद नहीं है। इसके आगमों का मूल स्रोत तीर्थंकर की वाणी है।

यह विश्वास किया जाता है कि तीर्थंकरों के उपदेश दिव्यध्वनि/दिव्यभाषा के रूप में हमें प्राप्त होते हैं (दिगम्बरों के अनुसार यह दिव्यध्वनि उपदेशों के अंतरंग अर्थ को संचारित करती है और उसे बाद में, उनके मुख्य गणधर शिष्य आगमों के रूप में निबद्ध करते हैं। इसके विपर्यास में, श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार, तीर्थंकर एक दिव्य मानव भाषा में उपदेश देते हैं)। सामान्यतः गणधरों का कार्य तीर्थंकरों के उपदेशों का संकलन, संपादन एवं जनभाषा में रूपांतरण या अनुवाद करना है। फलतः, आगम ग्रंथों को शाब्दिक रूप में नहीं लेना चाहिये, अपितु उनके सम्बन्ध में आत्म-विश्लेषण एवं संकलन की धारणा को ध्यान में रखना चाहिये।

प.2.1 प्रमुख आगम ग्रंथ

सामान्यतः जैनों के आगम-ग्रंथों की संख्या 60 है। इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया गया है :

वर्ग-1, पूर्व : 14

वर्ग-2. अंग (प्राथमिक आगम ग्रंथ) : 12

वर्ग-3. अंग-बाह्य (द्वितीयक आगम ग्रंथ) : 34

इन 60 ग्रंथों में, वर्तमान में केवल 45 ही उपलब्ध हैं क्योंकि 14 पूर्व ग्रंथ लुप्त हो गये हैं और एक अंग ग्रंथ- दृष्टिवाद भी लुप्त माना जाता है। इन ग्रंथों के नाम और पांच कोटियां मुनि नथमल जी ने 'दसवेयालिय' की भूमिका में दिये हैं। सारणी प.2.1 में इन ग्रंथों की रूपरेखा कुछ विवरणों के साथ दी गई है। सारणी प.2.2. में वर्ग 3 के उपवर्गों की जानकारी दी गई है। जैनों के बारह प्राथमिक अंग ग्रंथों में महावीर के गणधर गौतम और सुधर्मा स्वामी (परिशिष्ट 1 देखिये) का प्रमुख योगदान है। लेकिन इनके मौखिक संचरण की परम्परा बहुत समय तक चलती रही।

इन आगमों का टीकाओं के साथ लेखन लगभग 450 ई. (पांचवी सदी) से प्रारम्भ हुआ। आचार्य देवर्धिगणि की प्रेरणा से बलभी में (तीसरी या

चौथी) आगम-वाचना हुई। आचार्य भद्रबाहु द्वितीय (पांचवी सदी) और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (छठी सदी)आगमों के दो प्रमुख टीकाकार हैं।

सारणी प.2.1 : जैनों के उपलब्ध प्रमुख आगम ग्रंथ और विविध सम्प्रदायों द्वारा अनुमत संख्या

क्र.	जैन संप्रदाय	1. पूर्व (प्राचीन ग्रंथ)	2. अंग (प्राथमिक ग्रंथ)	3. अंगबाह्य* (द्वितीयक ग्रंथ)	अनुमत संख्या
1.	श्वेताम्बर (मूर्तिपूजक)	0 (14)	प्रथम 11 (12)	34 (34)	45
2.	स्थानकवासी	0 (14)	प्रथम 11 (12)	21 (21)	32
3.	तेरापंथी (श्वे.)	0 (14)	प्रथम 11 (12)	21 (21)	32
4.	दिगम्बर	0 (14)	12	14	26

* देखिये, सारणी प.2.2

सारणी प.2.2 : सारणी प.2.1 के अंग बाह्य वर्ग-3 के ग्रंथों का विवरण

क्र.	वर्ग 3 के उपवर्ग	अर्थ	ग्रंथों की संख्या		
			श्वेता.	स्थानक.	दिग.
अ.	उपांग	अंगों के द्वितीयक ग्रंथ	12	12	—
ब.	छेद-सूत्र	आचार-संहिता, प्रायश्चित्त	6	4	—
स.	मूल-सूत्र	मुख्य आचार-संहिता	4	4	—
द.	प्रकीर्णक	विविध	10	0	14
य.	चूलिका	—	2	0	—
र.	आवश्यक सूत्र		0	0	
	योग	—	34	21	14

सारणी प. 2.1 से प्रगट होता है कि आगमों की कुल संख्या 26 (दिगम्बर) से 84 (जयाचार्य) के बीच मानी जाती है। इनमें 45 के बदले 32

आगमों की परम्परा प्रचलित है और 32 आगमों की परम्परा में 10 प्रकीर्णक और 3 मूलसूत्र नहीं हैं (देखिये प.2.2)।

इन आगम ग्रंथों में कुछ विशिष्ट ग्रंथ निम्न हैं :

(अ) आचारांग : वर्ग 2 :

जैन साधु एवं साध्वियों की आचार-संहिता का ग्रंथ

(ब) सूत्रकृतांग : वर्ग 2 :

अनेकांतवाद के आधार पर जैनेतर दर्शनों का समीक्षात्मक परीक्षण।

(स) भगवती : वर्ग 2 : (इस शब्द का अर्थ आदरणीय है) :

इसमें गौतम के प्रश्न और महावीर के उत्तर दिये गये हैं और स्याद्वाद पद्धति का उपयोग किया गया है। इसमें गोशाल और महावीर के सम्बन्ध का विवरण भी अभिलेखित किया गया है।

(द) दृष्टिवाद : वर्ग 2 :

यह अंग वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। इसमें, विशेषतः कर्मवाद के सिद्धान्त की विवेचना थी जिसे दिगम्बरों के दो मुख्य आगम-कल्प ग्रंथों-षट्खंडागम और कषायपाहुड़ में अनुसरित किया गया है। इन दोनों ग्रंथों की प्रमुख टीकायें क्रमशः वीरसेन कृत धवला (816 ई.) और जयधवला (823 ई. तक, इसका कुछ भाग जिनसेन ने लिखा था) है जो 792-837 ई. के बीच की मानी जाती हैं। श्वेताम्बर साहित्य में कर्म सिद्धान्त का विश्रुत टीकाग्रंथ देवेन्द्रसूरि का 'कर्म-ग्रंथ' (चौदहवीं सदी) है। इसकी विषय सूची के लिये ग्लेजनप (1942) की पुस्तक देखिये।

(य) आचार दशा : वर्ग 3 ब :

जैनों में कल्पसूत्र भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जो आचार दशा का आठवां अध्याय है। इसमें तीर्थंकर और उनकी गणधरोत्तर परम्परा दी गई है। इस अध्याय में वर्षाकाल में मुनियों के लिये आचार संहिता भी दी गई है। इसे लगभग 1500 वर्षों से सार्वजनिक वाचन के रूप में, (विशेषकर पर्यूषण पर्व में, यह दिगम्बरों में 10 दिन का और श्वेताम्बरों में आठ दिन का होता है) प्रयुक्त किया जाता है। यह राजा ध्रुवसेन के पुत्र की मृत्यु के समय सबसे पहले उसे बलभी में धीरज बंधाने के लिये सुनाया गया था। तब से इसके वाचन की परम्परा चली आ रही है।

(र) दशवैकालिक : वर्ग 3 स :

इसमें मुनि-जीवन से सम्बन्धित विवरण है। इसके दसों अध्ययन स्वाध्याय के लिये निर्धारित समय-सीमा के बाद पढ़े जाते हैं।

(ल) उत्तराध्ययन : वर्ग 3 स (उत्तरवर्ती अध्ययन) :

यह ग्रंथ महावीर के अंतिम उपदेश के रूप में माना जाता है; विशेषकर, उसका वह भाग जिसमें गौतम को गुरु के प्रति भी निर्ममत्व धारण करने की सलाह दी गई है। इसके साथ ही, इसमें केशी-गौतम के उस संवाद का भी विवरण है जिसमें महावीर ने चार के बदले पांच व्रतों की प्रस्तावना की है। इसमें संयोजित पांचवां व्रत ब्रह्मचर्य है।

(व) आवश्यक : (वर्ग 3 स) :

इसमें वर्तमान प्रतिक्रमण सूत्र का अधिकांश भाग पाया जाता है। प्रतिक्रमण का अर्थ है — अपने दोषों की स्वीकृति और आगे न होने देने की कामना। इस प्रतिक्रमण सूत्र का अभ्यास आज भी प्रचलित है और इसमें जैन उपदेश संक्षेप में बताये गये हैं।

प.2.2 द्वितीयक जैन आगम : अनुयोग — आधारित ग्रंथ

जैनों के द्वितीयक कोटि के आगम ग्रंथ प्रथम कोटि के आगम ग्रंथों के पूरक हैं। इन्हें अनुयोगों के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। इन वर्गों के चार उपवर्ग हैं जिन्हें जैनों के चार वेद कहते हैं। ये मुख्यतः साधुओं और स्थविरों के द्वारा लिखे गये हैं। इन्हें अनुयोग ग्रंथ भी कहते हैं। यह वर्गीकरण प्रथम सदी के आस-पास विकसित हुआ है। इसके चार उपवर्ग निम्न हैं :

1. प्रथमानुयोग (धर्मकथा अनुयोग, प्रथम अनुयोग) :

इसमें तीर्थकरों एवं अन्य कोटि के महापुरुषों या शलाका पुरुषों के जीवन-चरित का वर्णन किया जाता है।

2. करणानुयोग : (विश्वविज्ञान एवं विज्ञान का अनुयोग) :

इसमें विश्व-विज्ञान एवं ज्योतिष विज्ञान के समान प्राचीन विज्ञान एवं कलाओं का वर्णन किया जाता है।

3. चरणानुयोग : (साधु एवं गृहस्थ के चरित्र का अनुयोग) :

यह जैन योग या आचार से सम्बन्धित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अनुयोग है। इसके अंतर्गत आचार्य हेमचंद्र का योगशास्त्र, (12वीं. सदी) और हरिभद्र का योगबिंदु (आठवीं सदी) के समान ग्रंथ समाहित होते हैं।

4. द्रव्यानुयोग : (तत्त्व, अस्तिकाय या द्रव्यों का अनुयोग) :

इसमें जैन मान्यता के अनुसार विश्व में मान्य भौतिक जगत् के छह द्रव्य एवं आध्यात्मिक जगत् के नव तत्त्व आदि का वर्णन किया जाता है। इस वर्ग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र (द्वितीय सदी) है। इस ग्रंथ में लगभग 350 सूत्रों में जैनों की समस्त सैद्धान्तिक मान्यताओं का संक्षेपण किया गया है। इसकी पंतजलि के योगसूत्र से तुलना की जा सकती है क्योंकि इसमें एक विशिष्ट दर्शन-तंत्र के उपदेशों को समेकीकृत रूप में दिया गया है। इस कोटि के अन्य ग्रंथों में आचार्य सिद्धसेन के न्यायावतार और सन्मत्तिसूत्र (पांचवीं सदी) नामक ग्रंथ भी समाहित हैं जो न्यायशास्त्र के उत्तम ग्रंथ हैं। मुनि यशोविजय आधुनिक न्यायशास्त्र के प्रतिनिधि हैं।

हमारा उपरोक्त विवेचन प्रायः श्वेताम्बर साहित्य तक सीमित है। दिगम्बर भी उपरोक्त 60 ग्रंथों में विश्वास करते हैं, लेकिन वे सभी (स्मृति में) लुप्त हो गये हैं। फिर भी उनके पास कुछ ऐसे अभिलेख हैं जिनके आधार पर दूसरी सदी के लगभग दो आगम-तुल्य ग्रंथ-षट्खंडागम (छह-खंडी आगम) और कषायपाहुड (कषायों का उपहार) लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त कुंदकुंद (संभवतः द्वितीय सदी) के ग्रंथ भी सर्वाधिक बोधगम्य हैं। इन ग्रंथों में समयसार, नियमसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय मुख्य हैं। उनकी परम्परा पूज्यपाद ने छठी सदी में भी जारी रखी। समयसार की महत्त्वपूर्ण आत्मख्याति टीका आचार्य अमृतचंद्र ने ग्यारहवीं सदी में लिखी थी। अन्य उल्लेखनीय आचार्यों में जिनसेन (नवमी सदी) और सोमदेव के नाम लिये जा सकते हैं। उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र' के उपर्युक्त रूपांतर और अकलंक, विद्यानंद और सिद्धसेन के ग्रंथ दोनों सम्प्रदायों द्वारा मान्य किये जाते हैं। इस विषय में विशेष विवरण के लिये पी. एस. जैनी (1979) की पुस्तक देखिये।

प्रथम वर्ग के आगम ग्रंथ (अंग ग्रंथ) अर्धमागधी भाषा में लिखे गये थे, जो मगध की प्राकृत की एक बोली या उपभाषा ही थी। उमास्वाति और उसके उत्तरवर्ती ग्रंथ तो संस्कृत में लिखे गये। इस प्रकार, जैनों का विशाल साहित्य उपलब्ध है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थ-सूत्र को धर्म से सम्बन्धित दार्शनिक पुस्तकों में मुख्य माना जा सकता है और इसे सभी जैन एक प्रामाणिक पुस्तक मानते हैं। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के जैन आगमों के सार के रूप में 'समणसुत्त' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसमें 756 गाथायें हैं। यह महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव पर सर्वसेवा संघ, राजघाट, वाराणसी से प्रकाशित हुई है। 1993 में इस पुस्तक का अंग्रेजी संस्करण भी प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक के अंत में दी गई संदर्भ ग्रंथ सूची का खंड 'अ' कुछ प्रमुख मूल ग्रंथ और उनके अनुवादों का निर्देश करता है।



परिशिष्ट – 3

उद्धरण

अ : स्वतःसिद्ध अवधारणार्थे (गा. : गाथा, सू. : सूत्र, अ. : अध्याय)

स्वतःसिद्ध अवधारणा 1

1. जीव इति कर्म-संयुक्तः ।

(पंचास्तिकाय-सार, गाथा 27)

2. यथाप्रवृत्त-करणम् इति अर्थः

(विशेषावश्यक-भाष्य, गाथा 1202)

स्वतःसिद्ध अवधारणा 2

3. नारक-तिर्यङ्-मनुष्या-देवा इति नाम संयुक्ताः प्रकृतयः ।

(पंचास्तिकाय-सार, गाथा 55)

4. कर्मावरण-मात्रायाः तारतम्य-विभेदतः ।

(नथमल मुनि, विजडम ऑफ महावीर, अध्याय 2, पेज 70)

स्वतःसिद्ध अवधारणा 3

5. परिणामात् कर्म कर्मणो भवन्ति, गतिषु गतिः ।

(पंचास्तिकाय-सार, गाथा 128)

स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 अ

6. मिथ्यादर्शन-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगाः बंधहेतवः ।

(तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 8 सूत्र 1)

स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 ब

7.प्राणिघातेन...सप्तमं नरकं गतः ।

8. मातेव सर्व-भूतानां अहिंसा हितकारिणी ।

9. अहिंसायाः फलं सर्व किमन्यत्, कामदैव साः ।

(योगशास्त्र, अध्याय 2, गाथा 27, 51, 52)

स्वतःसिद्ध अवधारणा 4 स

तपसा निर्जरा च ।

तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 9 सूत्र 3

बः ग्रंथो के उद्धरण : (उद्धरण : उ.)

1. उ.3.1 सब्बे करेइ जीवो, अज्झवसाणेण तिरियणेइये ।

देव-मणवे य सत्त्वे, पुण्णं पावं च अणेयविहं ॥

(समयसार, गाथा 268)

2. उ.5.1 शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य

(तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 6 सूत्र 3)

3. उ.5.2 सकषायत्वात् जीवः कर्मणो आदत्ते, स बंधः ।

(तत्त्वार्थसूत्र, अ. 8 सू. 2)

4. उ.6.1 परस्पररोपग्रहो जीवानाम्
(तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 5, सू. 21)
5. उ.6.2 पुरिसा, तुमेव तु मित्रः किं बहिया मित्र-मिच्छसि।
(आचारांगसूत्र, अध्याय 3 सू. 125)
6. उ.6.3 सच्चे जीवावि इच्छंति जीवियं न मरिज्जियं।
(दशवैकालिकसूत्र, अध्याय 6 गाथा 10)
7. उ.6.4 मा पमायए
(उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय 10 गाथा 1)
8. उ.6.5 मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि सत्वगुणाधिक-क्लिश्यमाना
विनेयेषु।
(तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 7 सूत्र 6)
9. उ.7.1 ज्ञानं बलाबलं
(योगशास्त्र, अध्याय 1 गाथा 64)
10. उ.8.1 स गुप्ति-समिति-धर्म-अनुप्रेक्षा-परीषह-जय-चारित्रैः।
(तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 9 सूत्र 2)
11. उ.8.2 णाणेन जाणि भावे, दंसणेण य सुद्दहे।
चारित्रेण णिगिण्हइ तवेण परिसुज्जई।।
(उत्तराध्ययनसूत्र, अ. 28 गाथा 35)
12. उ.8.3 सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।
(तत्त्वार्थसूत्र, अ. 1, सू.1)
13. उ.8.4 प्रथमं ज्ञानं, ततो दया।
(दशवैकालिकसूत्र, अ. 4, गा. 10)
14. उ.8.5. मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणवच तु भुंजे।
ण सो सुक्खाय, धम्मस्स, कलं अग्घई सोलसिं।
(उत्तराध्ययनसूत्र, अ. 9, गाथा 44)



परिशिष्ट - 4

गुणस्थान और सांप-सीढ़ी का खेल

इस में लेखक ने विभिन्न गुणस्थानों के बीच प्रमुख संक्रमणों को निरूपित करने के लिये सांप और सीढ़ी के परिवर्धित रूप को विकसित किया है (चित्र प-4.1 देखिये)। इस खेल के बोर्ड (फलक) में 16 वर्ग हैं और उनमें एक सिक्के को उछालने के बाद गमन किया जाता है। सिक्के के पृष्ठ भाग (पुच्छ) का अर्थ है 1 अंक और शीर्ष का अर्थ है 2 अंक। इस फलक पर पहले दो वर्ग तिर्यंच जगत् (पशु जगत्) के निम्नतर और उच्चतर जीवन को निरूपित करते हैं।

वर्ग 3 से मनुष्य जीवन का रूप प्रारम्भ होता है जो पहले चरण से उच्चतर चरणों की ओर जाने के लिये तत्पर है। इस खेल के निम्न नियम हैं:

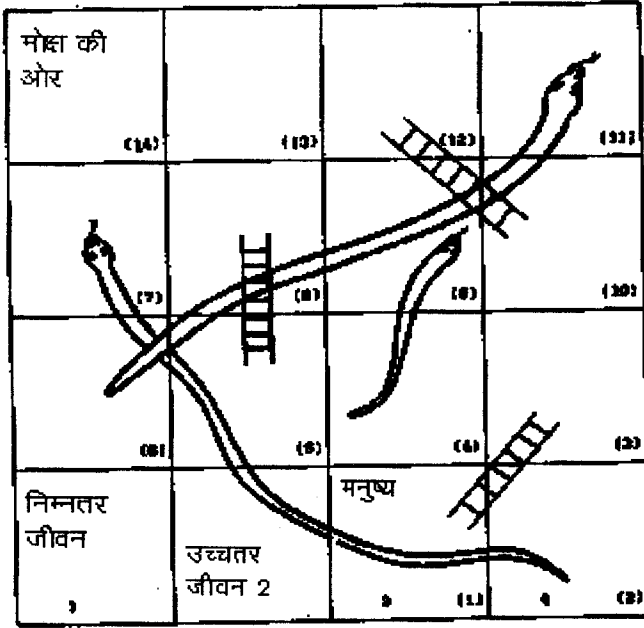
(अ) प्रारम्भ करने के लिये सिक्के का पृष्ठभाग आना चाहिये।

(ब) वर्ग 2 पर, सिक्के का पृष्ठभाग ही फेंकना चाहिये। इससे खिलाड़ी तीसरे चरण पर पहुंचता है और, सीढ़ी के तीसरे चरण पर चढ़ता है।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि शीर्ष के उछालने पर वर्ग 2 से वर्ग 4 में जाने की अनुमति नहीं है। खिलाड़ी वर्ग 4 में तभी आ सकता है जब वह वर्ग 7 में पहुंचे और फिर वहां से सर्प मार्ग से वर्ग 4 में आये। इस खेल का अंत यथार्थतः पूर्ण होना चाहिये अर्थात् तेरहवें चरण पर खिलाड़ी को सिक्के का पृष्ठ ही उछालना चाहिये।

महावीर के शिष्य आनंद के उदाहरण को ध्यान में रखते हुए यह संभव है कि इस सीढ़ी पर चरण 5 से चरण 8 पर साधु अवस्था के चरण को प्राप्त किये बिना ही पहुंचा जा सके। सामान्यतः यह खेल इस बात पर प्रकाश डालता है कि कब सीढ़ी पर चढ़ा जा सकता है (प्रगति) और कब सर्प मार्ग से नीचे जाया जा सकता है। खिलाड़ी जब एक बार बारहवें चरण पर पहुंच जाता है, तब वह चौदहवें चरण पर सदैव पहुंचता ही है और मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

इस धर्म-कल्प खेल के प्राथमिक रूप को ज्ञान-बाजी (ज्ञान का खेल) कहते हैं। इसके निदर्शन और विस्तृत विवरण के लिये पाल (1994, पेज 87) की पुस्तक देखिये।



चित्र प.4.1 सांप और सीढ़ी के माध्यम से गुणस्थान-संक्रमणों का निदर्शन।
यहां (X) अंक गुणस्थान के क्रमांक X को व्यक्त करता है।

खेल के नियम :

1. सिक्के के 'पृष्ठ' के उछाल पर 1 अंक मिलेगा और 'शीर्ष' के उछाल पर 2 अंक मिलेंगे।
2. सिक्के के पृष्ठ के उछाल से ही प्रारम्भ होता है। इससे प्रथम चरण (गुणस्थान) प्रारम्भ होता है।
3. यदि दूसरी बार 'पृष्ठ' उछलता है, तो गोटी वर्ग 2 पर रखी जाती है। अब पुनः पृष्ठ उछालने पर वर्ग 3 पर गोटी जाती है और तीसरा गुणस्थान प्राप्त होता है।
4. वर्ग 4 केवल चरण 7 से अधःपतन पर ही प्राप्त हो सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

अ. प्राकृत, संस्कृत या हिन्दी के ग्रंथ और उनके अनुवाद

1. आचारांगसूत्र; प्राकृत-मूल और मधुकर मुनि का हिन्दी अनुवाद; आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1980.
2. आचारांगसूत्र (अंग्रेजी अनुवादक : एच. जैकोबी) : जैन सूत्राज भाग-1, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क से पुनः प्रकाशित, 1968 पे. 1-213.
3. आवश्यकसुत्र; जैन आगम सीरीज, खंड 15, श्री महावीर जैन विद्यालय, बंबई, 1977
4. उत्तराध्ययनसूत्र; प्राकृत ग्रंथ; अनु. के. सी. ललवानी, प्रज्ञानं, कलकत्ता, 1977;
अनुवाद : एच. जैकोबी, जैन सूत्राज भाग - 2, डोवर पब्लिकेशन, न्यूयार्क से पुनः प्रकाशित, 1968 पेज 1-232.
5. दशवैकालिकसूत्र (अंग्रेजी); अनुवादक के.सी. ललवानी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973.
6. कल्पसूत्र (अंग्रेजी); अनु. एच. जैकोबी; जैन सूत्राज, खंड 2, डोवर पब्लिकेशन्स, न्यूयार्क से पुनः प्रकाशित, 1968.
7. कर्मग्रंथ, भाग 1-6; देवेन्द्रसूरि, हिन्दी अनु., एस.एल. सिंघवी, वर्धमान स्थानकवासी जैनधर्म शिक्षा समिति, बडौत (मेरठ), 1984.
8. तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वाति (मि) कृत, पं. सुखलालजी की टीका के साथ मूल संस्कृत ग्रंथ, अंग्रेजी अनुवादक के. के. दीक्षित, एल.डी. इंस्टीट्यूट आफ इंडोलोजी, अहमदाबाद, 1974.
9. तत्त्वार्थसूत्र; अंग्रेजी अनुवाद : 'दैंट व्हिच इज', नथमल टाटिया, पी. एस. जैनी आदि, हार्पर कोलिन्स, लंदन, 1994. (सेक्रेड लिटरेचर सीरीज)
10. महापुराण, भाग 1-3; पुष्पदंत, अपभ्रंश ग्रंथ, (सं.) पी. एल. वैद्य; माणिकचंद्र दि. जैन ग्रंथमाला, बंबई, 1937-47.
11. नियमसार; कुंदकुंद; अंग्रेजी अनु. उग्रसेन जैन, सेंट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, 1931.
12. पंचास्तिकाय-सार; कुंदकुंद, संस्कृत और अंग्रेजी अनुवाद ए चकवर्ती और ए एन उपाध्ये, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली 1975
13. प्रवचनसार; कुंदकुंद का प्राकृत ग्रंथ (अमृतचंद्र की तत्त्वदीपिका, जयसेन की तात्पर्यवृत्ति और हेमराज पांडे की बालावबोध भाषा टीका के साथ), (संपा.) ए. एन. उपाध्ये, राजेन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, 1934.
14. समणसुत्तं; सर्व सेवा संघ, वाराणसी, 1993.

15. समयसार; कुंदकुंद का प्राकृत ग्रंथ (अमृतचंद्र की आत्मख्याति टीका के साथ), मूल ग्रंथ और अंग्रेजी अनुवाद : ए. चकवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1971,
16. योगशास्त्र; हेमचंद्र, हिन्दी अनुवाद के साथ मूल संस्कृत ग्रंथ, अनु. मुनि पद्मविजय, श्री निर्ग्रंथ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली 1975
17. विशेषावश्यक भाष्य; जिनभद्रगणि : संपादक नथमल टाटिया; रिसर्च इंस्टीट्यूट ऑफ प्राकृत, जैनीलोजी एण्ड अहिंसा, वैशाली, 1972
18. विश्वप्रहेलिका; महेन्द्र मुनि, जवेरी प्रकाशन, माटुंगा, बंबई, 1969.
19. कषाय; साध्वी हेमप्रज्ञा, विचक्षण प्रकाशन, इंदौर, 1999.
20. ग्यारह प्रतिमायें; महात्मा भगवानदीन, प्रबुद्ध जैन विचार मंच, कलकत्ता-7, 2000.
21. मेरी भावना; जुगल किशोर मुख्तार, जैन साहित्य सदन, नई दिल्ली, 1981.
22. तीर्थंकर वर्धमान; मुनि विद्यानंद, वीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति, इंदौर, 1973.



ब. आधुनिक ग्रंथ : Modern Works

1. Amarendravijay (1993); *Science Discovers Eternal Wisdom*, Jain Sahitya Academy, Gandhidham.
2. Basham, A.L. (1958); *Jainism and Buddhism, Sources in Indian Tradition*, ed. De Bary, W.T., Vol. 1, 38-92, Columbia University Press, New York.
3. Bharucha, F. (1993); *Role of Space-Time in Jaina's Syādvāda and Quantum Theory*, Sri Satguru Publications, Delhi.
4. Capra, F. (1975); *Tao of Physics*. Bantam Books, New York.
5. Carrithers, M. & Humphrey, C. (1991); *The Assembly of Listeners, Jains in Society*, Cambridge University Press, Cambridge.
6. Chitrabhanu, Gurudev Shree (1980); *Twelve Facets of Reality. The Jain Path of Freedom*. (Edited by Clare Rosenfield), Dodd, Mead & Co., New York.
7. Davies, P.C.W. (1983); *God and the New Physics*. London: J.M. Dent; Penguin Books (1984).
8. Dundas, P. (1992); *The Jains*, Routledge, London.
9. Einstein, A. (1940); Science and Religion, *Nature*, Vol. 146, pp. 605-7.
10. Einstein, A. (1941); "Science and Religion" First conference of Science, Philosophy and Religion, New York (Reprinted in *Ideas and Opinions*, 1973, Souvenir Press, London).
11. d'Espagnat, B. (1979); *The Quantum Theory and Reality, Scientific American*, 241, pp. 128-40.
12. Gamow, G. (1965); *Mr. Tompkins in Paperback*. Cambridge University Press
13. Von Glasenapp, H. (1942); *The Doctrine of Karma in Jain Philosophy*. tr. from the German by G. Barry Gifford. Bai Vijibhai Jivanlal Pannalal Charity Fund, Bombay.
14. Gribbin, J. (1984); *In Search of Schrodinger's Cat*, Wildwood House (Reprinted by Corgi books).

15. Haldane, J.B.S. (1957); "The syādvāda system of predication." *Sāṅkhya*, A 18, pp. 195-200.
16. Hawking, S.W. (1988); *A Brief History of Time*, Bantam Press, London.
17. Hay, S.N. (1970); *Jain influences on Gandhi's early thought in Gandhi, India and the World*, ed. S. Ray, pp. 29-38. Philadelphia, Temple University Press.
18. Jacobi, Hermann (1884, 1895); *Jaina Sutras*, Vol. 1,2, Sacred Books of the East, 'XXII, XLV; Oxford. Reprinted (1968), Dover Publications, New York.
19. Jahn, R.G. (1982); "The Persistent Paradox of Psychic Phenomena: an engineering perspective." Proc. Inst. of Elec. & Electronics Engr., 70 pp. 136-70.
20. Jain, D.C. (1990); (Editor) *Studies in Jainism*, Jain Study Circle, Flushing, New York.
21. Jain, C.R. (1929); *The Practical Dharma*, The Indian Press, Allahabad (Re-printed as *Fundamentals of Jainism*, 1974, Veer Nirvan Bharti, Meerut).
22. Jain, G.R. (1975); *Cosmology Old and New*. Bhāratiya Jñānpītha Publication, Delhi.
23. Jain, H.L. and Upadhye, A.N. (1974); *Mahavira: his Times and his Philosophy of Life*. Bhāratiya Jñānpītha Publication, Delhi.
24. Jain, L.C. (1992); *The Tao of Jaina Sciences*. Arihant International, Delhi.
25. Jain, N.L. (1993); (a) *Jain Systems in Nutshell*. Nij-Jnan-Sagar Shiksha Kosha, Satna. : (b) *Jaina Karmology* (1998), Parshwanath Vidyapith, Varanasi : (c) *Scientific Contents in Prākṛta Canons*, (1996)Parshwanath Vidyapith, Varanasi
26. Jain, S.K. (1980); *Communication Regarding the Process of Rebirth in Karma and Rebirth in Classical Indian Traditions*, ed. By W.D. O'Flaherty. pp. 237-8. University of California Press, Berkeley.
27. Jaini, J.L. (1916); *Outlines of Jainism*. Cambridge. Reprinted in 1979. J.L. Jaini Trust, Indore.

28. Jaini, P.S. (1979); (a) *The Jaina Path of Purification*. University of California Press: Berkeley (Reprinted by Motilal Banarsidass, Delhi); (b) *Gender and Salvation*. (1991); University of California Press, Berkeley.
29. Kapashi, V. (1985); *Jainism for Young Persons*. Jain Samaj Publications, Leicester.
30. Kapashi, V., Shah, A. and Desai, K. (1994); *Text Book of Jainism : Level I*. Institute of Jainology, London.
31. Khurshēed, A. (1987); *Science and Religion*. One World Publication, London.
32. King, Ursula (1987); "Jainism." In *The Encyclopedia of World Faiths*. Ed. Bishop, P. and Darton, M. Macdonald Orbis 1987, London and Sydney.
33. Kothari, D.S. (1975); *Some Thoughts on Truth*. Anniversary Address, *Indian National Science Academy*, pp. 1-23, Delhi.
34. Mahalanobis, P.C. (1954); "The Foundations of Statistics." *Dialectica* 8, pp. 95-111.
35. Mardia K.V. (1975); "Jain Logic and Statistical Concepts." *Jain Antiquary and Jaina Siddhanta Bhaskar*, Oriental Research Institute, Arrah, 27, pp. 33-7.
36. Mardia K.V. (1981); "Why Paryushana is Doing Your Own MOT?" *The Jain*, 3, issue 9, pp. 4-5.
37. Mardia K.V. (1982); "Mahavira as a Man." *The Jain*, 4, issue 11, p.16.
38. Mardia K.V. (1988a); Discussion to "Probability, Statistics and Theology", by D.J. Bartholomew. *J. Roy. Statist. Soc A* 151, pp. 166-7.
39. Mardia K.V. (1988b); "Jain Culture." *The Jain, Pratistha Mahotsava Souvenir Issue*, pp. 51-3. Jain Samaj Publications, Leicester.
40. Mardia K.V. (1991); "Modern Science and the Principle of Karmons in Jainism." *Jain Journal*, Vol. 26, pp. 116-19.

41. Mardia K.V. (1992); *Jain Thoughts and Prayers*, The Yorkshire, Jain Foundation, Leeds.
42. Marett, P. (1985); *Jainism Explained*, Jain Samaj Europe Publications, Leicester.
43. Motilal, B.K. (1981); *The Central Philosophy of Jainism (Anekanta-vāda)*, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad.
44. Mehta, M.L. (1995); *Jaina Psychology*, Sohanlal Jaindharma Pracharak Samiti; Amritsar.
45. Nandighoshvijay, Munishri (1995); *Jainism : Through Science*, Shri Mahavira Jain Vidyalaya, Bombay.
46. Nathmal, Muni (1970); *Wisdom of Mahavira*, tr. Bhuteria, K. and Manian, K.S., Adarśa Sāhitya Sangh Publication, Churu.
47. Oldfield, K. (1989); *Jainism: The path of purity and peace*, Christian Education Movement, Derby.
48. Pal, P. (1994); *The Peaceful Liberators: Jain Art from India*, Themes and Hudson, Los Angeles Country Museum of Art.
49. Pedler, K. (1981); *Mind over Matter*, Thomas Methuen, London.
50. Popper, K.R. (1968); *The Logic of Scientific Discovery*. 2nd ed. Hutchinson, London.
51. Shah, A.K. (1991); *Experiments with Jainism*. Young Jains Publications, London.
52. Shah, B.S. (1992); *An Introduction to Jainism*. The Setubandh Publications, New York.
53. Sheldrake, R. (1981); *A New Science of Life*. Blond & Briggs Ltd., (Paladin Books, 1983).
54. Singhvi, L.M. (1990); *The Jain Declaration on Nature*. The Jain Sacred Literature Trust, London.
55. Stevenson, S. (1915); *The Heart of Jainism*. Oxford University Press. Reprinted in 1970, Delhi (also see, review *The Jain*, 1983, pp. 5-6.)
56. Tatia, N. (1994); *New Dimensions in Jaina Logic*. tr. of "Jaina Nyaya ka Vikasa" by Mahaprajna Yuvācāryashri, Jaina Vishva Bharati, Ladnun.
57. Tatia N. (1986); *Jaina Meditation : Citta Samādhi : Jaina-Yoga*. Jaina Vishva Bharati, Ladnun.

58. Tobias, M. (1991); *Life Force. (The World of Jainism)*, Asian Humanities Press, Berkeley.
59. Vakharia, N.N. (1978); *Cosmological Truths of Ancient Indian Religions : Jainism and Hinduism*. Flint, Michigan.
60. Williams, R. (1963); *Jaina Yoga: A Survey of the Mediaeval Srāvakācaras*. Oxford University Press, London (Reprint, Motilal Banarsidass, 1983)
61. Wilson, I. (1981); *Mind out of Time ?* Gollancz, London.
62. Zaveri, J.S. (1975); *Theory of Atom in the Jaina Philosophy*. Jaina Vishva Bharati, Ladnun.

शब्दावली अनुक्रमणिका

- अधर्म : A Reality (Dravya);
Medium of Rest, 37, 47
- अघातिया : Non-destructive
Karmas; Secondary Karmic
components, 34, 51
- अहिंसा : Non-Violence;
Harmlessness, 70, 78
- अजीव : Non-soul, Insentient
object, Non-living being, 23,
18, 31, 114
- अत्तोकाकाश : Unoccupied space;
a reality, 47
- अमूढ-दृष्टि : Freedom from false
notions, Non-infatuated
vision, 98, 103
- अनेकांतवाद : Jaina Holistic
Principle, Theory of
Manifold Predication, 109,
110, 112, 113
- अंग : Jaina Primary Scriptures,
Main texts, 136
- अंगबाह्य : Jaina Secondary
Scriptures, Subsidiary texts,
136
- अनित्य : Impermanent, an
anuprakṣha (reflections), 104
- अनिवृत्ति-करण : Uniformly mild
passions (or volitions), a
Guṇasthāna, 74, 87
- अनुभाव : Potential energy in
karman decay; Intensity
bond, 23
- अणु-ब्रह्मचर्यव्रत : Minor vow of
celibacy, Sex within
marriage, no sexual
deviations, 103
- अनुप्रेक्षा : Introspective
Reflections, twelve kinds,
103
- अणुव्रत : (Five) minor or lower
vows, 103
- अनुयोग : Expositions,
Secondary scripture,
Exposition-based scripture,
139
- अन्यत्व : Separateness, a
reflection, 104
- अपरिग्रह : Non-possession, Non-
attachment, 103
- आपोकायिक/जलकायिक : Water-
bodies, Water-bodied, 31
- अप्रमत्त-विरत : Enlightened
world view with careful or
vigilant restraint,
Carelessness-free restraint,
74, 87
- अपूर्व-करण : Unprecedented
Volitions, a Guṇasthāna, 74,
80, 96
- आरंभजा हिंसा : Domestic or
occupational violence, 70
- अरिहंत : Perfect being,
Venerable, Enlightened, 23
- आर्तध्यान : Mournful meditation,
104
- अशरण : Helplessness; a
reflection, 104

- असातावेदनीय : Pain-producing karma, Secondary karmic component, 47
- अष्टांग : Eight qualities of True insight or Right faith, 103
- अस्तेय : No-stealing, 103
- अशुचि : Impurity, a reflection, 104
- अवधिज्ञान : Clairvoyance, Limiting Knowledge, 113
- अवसर्पिणी : Regressive half-cycle of time, 79
- अविरत-सम्यक्-दृष्टि : Non-restrained enlightened world view, a Guṇasthāna 74, 87
- अविरति : Non-abstinence, 59
- अयोग केवली Static omniscient, a Guṇasthāna, 74, 87
- अभाषा : Fallacy, 122
- आचार्य : Spiritual master, Head of the Order, Religious Minister, 30, 32, 34, 91
- आचारांग : The first primary cannon, 138
- आगम : Jaina sacred scripture, Canon, 136
- आकाश : A reality, space, 23, 34
- आयु : Secondary Karmic component, Longevity-determining, 47
- आवश्यक : A scripture of Essential duties, 139
- आस्रव : Karmic influx, Force, A reflection, 104

- उदय : Realisation, Fruition, Operation, 23
- उपाध्याय : Spiritual Preceptor, 29
- उपगूहन : Safe-guarding, 103
- उपशम : Subsidence, suppression, 23
- उपशांत-मोह : Partially complete self-restraint with suppressed delusion or greed, Subsided Delusion : a Guṇasthāna, 74, 87
- उत्सर्पिणी : Progressive half-cycle of time, 70
- उत्तराध्ययन : A subsidiary scripture, (Post-studies scripture), 139
- एकत्व : Aloneness, Solitariness, A reflection, 104
- करणानुयोग : A secondary scripture; Exposition of Cosmology and Sciences, 139
- करण : Volition, Instrument.
- काल : Time, A dravya, 47
- कालचक्र : Temporal cycle, Progressive half-cycle (Utsarpiṇī); Regressive half-cycle (Avasarpiṇī); Suṣamā (happy); Duṣamā (misery, unhappy), 70
- कल्पसूत्र : A book of subsidiary scripture, 70
- कर्म : Karmic matter, Composed of Karmon particle, 19, 22

- कर्म घटक : Eight Karmic components, 46
- कार्मिक शरीर : A type of bodies, Karmic body, 47 (see śarīra)
- कषाय : Passions; Four principal passions, 59
- काय गुप्ति : Body, a guard, 116, embodiment, 1
- केवलज्ञान : Infinite knowledge, Absolute Knowledge, Omniscience 113
- क्रोध : Anger, 59
- क्षीण-मोह : Completely eliminated greed or delusion, a Guṇasthāna, 117
- गति : Four existences, destiny, 31
- गोत्र : Environment determining; A karmic component, 47
- गुण (आत्मा के) : Attributes, soul's element, 22
- गुणस्थान : Spiritual stage, Purification stage, fourteen in number, 97
- गुप्ति : Guard, Kāya (body), Mana (mind), Vacana (Speech), 163
- घातिया कर्म : Destructive karmas; Primary Karmic components, 46
- चारित्र मोहनीय : Conduct-deluding, A karmic component, 46
- चरणानुयोग : Exposition of Primary and Secondary conduct, A form of scripture, 140
- जय जिनेन्द्र : Honour to Jina, Victory to Jina, 1
- जिन : Tīrthaṅkara, Victor of inner enemies, 1
- जीव : Soul, a Dravya; The sentient or living being, 47
- ज्ञान : Knowledge, 12, 19, 22, 34
- ज्ञानावरणीय कर्म : Knowledge - obscuring karma; A karmic component, 47
- तैजस शरीर : Karmic capsule, Luminous body, 47
- तारण पंथ : A Jaina sub-school of Digambaras, non-idolaters, non-temple believers, 10
- तत्त्व : Nine reals (Spritual), 23
- तत्त्वार्थसूत्र : An authentic book of Jaina principles, (Formulary of Reals), 10, 109, 163-164.
- तेजोकायिक : Fire-bodied, Fire-bodies, 35.
- तेरापंथ : A sub-school of Śvetāmbara, non-idolaters; a sub-school of Digambaras idolaters, 10
- तीर्थंकर : Omniscient Spiritual Teacher, Ford-builder, 1, 10
- तिर्यच : Animal/plant life, sub-humans, 34

त्रि-रत्न : Three jewels, Gem-
trio, 104

दर्शनावरण : Conation/
perception-obscuring, A
karmic component, 47

दर्शन मोहनीय : Insight or faith-
deluding; A karmic
component, 47

दर्शन : Faith, Perception,
Intuition, Conation, 12, 22

दश-धर्म : Decad of
Righteousness, Ten-fold
righteousness, 103

दशवैकालिक : A subsidiary text,
(to be studied out of time),
156, 159, 164

देव : Heavenly being,
Empyreans,

(a) धर्म : Righteousness, duty,
103

(b) धर्म : Medium of motion; a
Dravya, 47

देश-विरत : Partial self-restraint,
a Guṇasthāna, 87

धर्मध्यान : Virtuous meditation,
Meditation on reality, 104

धर्म-स्वारव्यात्त्व : Jaina teachings;
a reflection, 104

ध्यान : Meditation, 104

दिगम्बर : A school of Jainas,
Sky-clad monk, 10

द्रव्यानुयोग : Exposition of Reals
and Realities; a scripture,
140

द्रव्य : Existent, Reality, Six
kinds, 47

दुष्पमा : Misery, unhappiness,
Penury, See 'Kāla', 70

द्वेष : Aversion, 59

नाम कर्म : Physique-making or
body-producing karma; A
karmic component, 47

नारकी : A hellish being; Infernal
being, 31

नयवद : (Unique) Standpoint
principle, 113

निगोद : Micro-organisms,
Lowest life, 31

निक्षेप : Positing : Classification
of imports of words, 113

निःकांक्षित : Freedom from
anticipation/desires, 103

निःशंकित : Freedom from doubt,
103

निर्जरा : Shedding, karmic-
fission/decay, 104

निर्विचिकित्सा : Freedom from
disgust, 103

नो-कषाय : Subsidiary passion,
Quasi-passion, 59

पंच परमेष्ठी : Five spiritually-
high, five paragons, 34

पाप : Sin, Heavy Karmic matter,
22, 73

परमाणु : ultimate particle/atom,
47

परिग्रह : Possession, attachment,
3, 98, 102, 109, 147

परीषह-जय : Affiliation-
mastery, 104

पार्श्व : 23rd Tīrthāṅkara, 2, 10

- प्रभावना : Illumination, glorification, 103
- प्रदेश : Space point, point, 23
- प्रदेश : Number of Karmons in Karmic fusion, 47
- प्रकृति : Type bond; Karmic component of Karmic force, 23
- प्रमाद : Carelessness, non-vigilance, 59
- प्रमाण : Comprehensive right knowledge, Organ of knowledge, 113
- प्रमत्त-विरत : Enlightened world view with non-vigilant self restraint, 87
- प्रथमानुयोग : Exposition of biography, a scripture type, 139
- प्रतिमा : Renunciation stages, Mental resolves for vows etc., 103
- पृथ्वी-कायिक : Earth-bodied, Earth-bodies, 35
- पुद्गल : Matter, mattergy, a Dravya, 22, 127
- पुण्य : Merit, Sacred, Light karmic matter, 22, 73
- पूर्व : Pre-canon, Jaina Scripture, Old texts, 156
- बंध : Karmic bondage/ fusion, 22
- बोधि-दुर्लभ : Rarity of true insight or enlightenment, a reflection, 104
- भयत्व : Freedom-longing (catalyst), Liberatability, 23
- भाव : Volition, Mode, 59
- भव : Birth-state.
- महावीर : 24th Tīrthāṅkara, 2, 10
- महावीर, जीवन : Life of Mahāvīra, 151, 155
- महापुराण : A text of biography of Elders, 20
- मन : Mind, Psychical brain, 103
- मान : Pride, A passion, 67
- मनःपर्यव ज्ञान : Mind-reading knowledge, telepathy, 113
- मतिज्ञान : Sensory knowledge, Empirical knowledge, 113
- मनुष्य : Humans, 34
- माया : Deceit, 67
- मोक्ष : Liberation, Salvation, 22, 116
- मिश्र : Mixture of Deluded and Enlightened world view, A Guṇasthāna, 87
- मिथ्यादर्शन : Wrong faith/view, 59
- मिथ्यादृष्टि : Deluded world view, Wrong-faithed, A Guṇasthāna, 86
- मुहँ-पट्टी : Mouth mask, 10
- मूर्च्छा : Attachment, 147
- योग : Activities of body, mind and speech, Yoga, 59
- राग : Attachment, 59
- त्रिषभ : Rṣabha, The first Tīrthāṅkara, 1, 2, 10

रौद्रध्यान : Wrathful/Cruel
 meditation, 104
 लेश्या : Karmic stain on soul,
 Aureole, Aural colouration,
 147
 लोभ : Greed, 67, 89
 लोक : Universe, A reflection,
 104
 लोकाकाश : Occupied space, A
 Dravya, 54
 वचन : Speech, 103
 वर्गणा : Variform, Particle-
 grouping, 47
 वात्सल्य : Disinterested love, 103
 वायु-कायिक : Air-bodied, Air-
 bodies, 35
 वेदनीय : Feeling producing
 karma, A karmic component,
 47
 विरोधी हिंसा : Defensive
 violence, 70
 वीर्य : Energy, potency, 22
 वीर्य-अंतराय : Energy
 obstructing, A karmic
 component, 47
 श्रमण : Monk, Striver monk, 154
 श्रावक : Jaina Layman, Votary,
 103, 154
 श्रुतज्ञान : Verbal/Articulate/
 Vocabular knowledge, 113
 शुक्ल ध्यान : Pure trance,
 Absolute meditation, 104
 श्वेताम्बर : A Jaina school, A
 white-clad monk, 10
 साधु : Saint, Monk, 31

स्यादस्ति : In some respect, it is,
 113
 सम्यक्-चारित्र : Right conduct,
 104
 सम्यक्-दर्शन : Right faith,
 Rational View/ EWV, 104
 सम्यक्-दृष्टि, अविरत :
 Enlightened World View,
 Non-abstained, 97
 सम्यक्-ज्ञान : Right-knowledge,
 104
 समिति : Watchfulness,
 Carefulness, 103
 संकल्पी हिंसा : Pre-meditated
 violence, Intentional
 violence, 70
 संवर : A real, Stoppage of
 karma, Karmic force shield,
 A reflection, 104
 सप्तभंगी-नय : The seven-fold
 conditional predication, 113
 सास्वादन/सासादन : Lingering
 right faith, 97
 शरीर : Body, type of bodies, 47
 सातावेदनीय : Pleasure-
 producing, A karmic
 component, 47
 सत्य : Truthfulness, truth, 103
 सयोग केवली : Dynamic
 omniscient state, A
 Guṇasthāna, 87
 सिद्ध : Liberated Soul, 23, 31
 स्थानकवासी : A Jaina sub-school
 of Śvetāmbaras; non-idolater,
 Non-temple believer, 10

स्थिति : Duration, Time to decay
the fused karmons, 23

स्थितिकरण : Promoting stability,
stabilisation, 103

संयम : Restraint, Self-restraint,
82, 88

सुख : Bliss, Happiness, 24

सूक्ष्म-मोह/सम्पराय : Subtle
greed/delusion, A
Guṇasthāna, 87

सुषमा : Happiness, see Kāla, 70

सूत्रकृतांग : A primary scripture,
Second Primary Scripture,
158

स्यादस्ति : In some respect, it is,
113

स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च : In
some respect, it is and is
indeterminate, 113

स्यादस्ति-नास्ति च : In some
respects, it is and it is not,
113

स्यादस्ति-नास्ति च अवक्तव्यश्च :
In some respect, it is, it is not
and indeterminate, 113

स्याद्वाद : Conditional predication
principle, 113

स्यात्-अवक्तव्य : In some
respect; it is indeterminate,
113

स्यात् : In some respect, 113

स्यात् नास्ति : In some respect, it
is not, 113

स्यात् नास्ति च अवक्तव्यश्च : In
some respect, it is not and is
indeterminate, 113

सामान्य अनुक्रमणिका

- अकलंक 140
 अग्निकायिक 25
 अ - घटक 34, अ₁ - घटक 34, अ₂ -
 घटक 34
 अघातिया कर्म 34, 59
 अजीव 42, 136
 अणुव्रत 103
 अध्यारोपण सिद्धान्त 124
 अधर्मद्रव्य 34, 47
 अधिष्ठित आकाश/लोकाकाश 37
 अनधिष्ठित आकाश/अलोकाकाश 37
 अनादि 1
 अर्निद्रिय प्रत्यक्ष 106
 अनिवृत्तिकरण 87
 अनुप्रेक्षा/भावना 93
 अनुभाव 23
 अनुभूति 78
 अनुभूति-उत्पादक घटक 35
 अनुमान पदी 107
 अनुमान के पांच अवयव 107
 अनुयोग 139, करणानुयोग 139,
 चरणानुयोग 140, द्रव्यानुयोग 140,
 प्रथमानुयोग 139
 अनेकांतवाद 109, 112, 113
 अनंत 13, 19, दर्शन 35, 42, 43 वीर्य
 35, 42, 43 सुख 35, 42, 43 ज्ञान
 35, 42, 43
 अनंत चतुष्टय 27
 अंजीर 63
 अंतर-आत्मा 88
 अन्वोन्यक्रिया 12, 13, 17, 25, 40, 43,
 62, 98, 131, 136, 137
 अपराधी 27
 अपरिग्रह 90
 अपूर्वकरण 96
 अमूर्त 48
 अमृतचंद्र 160
 अरस्तू 107
 अरिहंत/अर्हत् 1, 23, 29, 31
 अर्धमागधी 1, 161
 अवक्तव्य 109
 अवधिज्ञान 106, 113, 120
 अव-परमाणुक 12
 अवसर्पिणी/अवनतिमान 1, 67, 78
 अविरति/असंयम 57, 58, 82
 अशरणत्व 93
 असंयम 49, 50
 अस्तिकाय 19, नवतत्त्व 22
 अस्तित्व की अवस्थायें 28
 अहिंसा 3, 66, 70 - का भाव पक्ष 73,
 - के व्यावहारिक घटक 64,
 सकारात्मक 62, 64, 82, 88
 आइंस्टीन, एलबर्ट 130, 141, 143, 146
 आकाश 37, अलोकाकाश 37, प्रदेश 37,
 लोकाकाश 37, बिन्दु 37
 आकृति क्षेत्र/मोर्फिक फील्ड 123
 आगम ग्रंथ 136, प्राथमिक 136
 आचार दशा 138
 आचारांग 138, 143
 आजीवक 133
 आत्म-विजय 1
 आत्म-संयम 88, 146
 आत्मा 11-15, अनुरुपता, चुंबक से 22,
 - के घटक/मूल तत्त्व 12
 दर्शन-घटक 13, गुणस्थान 83,
 शोधन की धुरी 83, संदूषित 46
 आधुनिक कण भौतिकी 116
 आचार्य 29, उपाध्याय 29, 31
 आधुनिक भौतिकी 42
 आध्यात्मिक विकास 110
 आयुर्कर्म 47
 आयु-निर्धारक घटक 34
 आर्तध्यान, 104
 आवश्यक 139
 आस्रव 14
 इलेक्ट्रॉन 34, 116, 117
 ईश्वर की धारणा 134
 ईश्वर के विरोध में तर्क 20

उत्तर—जीविता 71
 उत्तराध्ययन 139, 143, 164
 उत्परिवर्तनीय 115
 उत्सर्पिणी / प्रगतिमान 67, 70
 उदीरण 61
 उपाध्याय 27, 29, 31,
 उपवास 89
 उपशम 76
 उपशमन 76
 उपाध्ये, ए. एन. 134
 उमास्वाति 89, 97, 140, 141, — का
 तत्त्वार्थसूत्र 140, 141

 ऊतक 80
 ऊर्जा और पुद्गल, 130

 एकत्व (भावना) 93
 एकदेशावगाही 24
 ए—पैसियोनो 121
 एवंभूतनय 106

 कण भौतिकी 114, 122
 किण्वन 71
 केपरा, एफ. 46
 करणानुयोग 139
 करुणाभाव 88
 कर्म—पुद्गल 13, 15, 21
 कर्म—बंध 14, 15, 16, 18
 कल्पसूत्र 138
 कषाय 49, 51, 53, — और भावों की
 तरतमता 54, — की पांच कोटियां
 54
 कषायपाहुड 138, 140
 काल, एक चौथा आयाम 39, 140
 कुंदकुंद 34, 45, 140, नियमसार 140,
 पंचास्तिकाय 140, प्रवचनसार 140,
 समयसार 140
 केवलज्ञान 113
 कोठारी, डी. एस. 109
 कोशल 1
 क्रोध 54, 55, 72, 79, 93, — का समय
 56, कार चालक में चार कषायें
 102

कार्मन कण 12—15, 18, 20, 41
 कार्मिक—अभिकारक 127
 कार्मिक घनत्व 15, 24
 कार्मिक घनत्व की धुरी 84
 कार्मिक द्रव्य 11
 कार्मिक शरीर 36, 40
 कार्मिक संपुट 40, 41
 कृष्ण विवर 43
 क्वांटम तर्कशास्त्र, 109
 क्वांटम सिद्धान्त, 114
 क्वार्क, 117, 118, — के रस 118

खुशीद 124

गतिक / गतिशील—अहिंसा 70, कर्म—बंध
 की प्रक्रिया 14, कर्म—वियोजन की
 प्रक्रिया 84, बल 44, संयोग केवली
 अवस्था 84, 90, 91, 98, 108

गति पर्याय 38

गंध 42, — के दो प्रकार 43

गामो, जी. 115

गांधी, महात्मा 3, 75

गुणस्थान 73, 91, सांप—सीढ़ी का खेल
 144

गुप्ति 92, 95

गुरुत्वीय बल 12, 31, 135

गोत्र कर्म 51, 154

गोशाल 133

गौतम, इंद्रभूति 72, 133, 157

गौतम बुद्ध 3

गॉज बोर्सॉन 116, 118, 120,

ग्रिबन जे. 115

ग्लेजनप, वॉन एस, 56

ग्लुऑन 119

ग्रेविटॉन 120

घातिया घटक 30

घातिया कर्म 90

चतुर्विध संघ 27ए 133

चरणानुयोग 140

चार गतियां 28

चारित्र मोहनीय 46

चित्रभानु, गुरुदेव, 64
 चुम्बक और संदूषित आत्मा 21
 चेतना का स्तर 25
 चंडकौशिक 44, 134
 चंदना 134

छः द्रव्य 42
 छेद-सूत्र 137

जम्बूस्वामी 79
 जन्म-मरण के चक्र 37
 जय जिनेन्द्र 1
 जय धवला 138
 जयाचार्य 137
 जलकायिक 25, 35
 जवेरी, जे. एस. 47, 122
 जॉन, आर. जी. 114
 जामालि 131, 134
 जायगोट/युग्मनज 122
 जिनभद्र गणि 137
 जिनसेन 138, 140
 जीव 13, 48, 121
 जीवन का अनुक्रम 3-8, जीवन-चक्र
 39, 40
 जीवन-धुरी 27, 28, 29, 30
 जीवन के यूनिट/इकाई 24-27, 71,
 72, 94, 148
 जैकोबी, एच. 70
 जैन 1, 3, आगम, 9 इतिहास की
 महत्त्वपूर्ण तिथियां 5, काल-चक्र
 68, तर्कशास्त्र 119, 145, दर्शन
 12, धर्म 1, 2, 3, 12, न्याय 2, पंथ
 की सत्यता 106, योग 58, विचार
 12, विज्ञान, 19, 21, 45, 48, विश्व
 काल-चक्र 75, 92, 140, सम्प्रदाय
 3, सिद्धान्त
 जैन, सी. आर. 40
 जैन, जी. आर. 116, 122, 123, 139
 जैन, एच. एल. 134
 जैन, एन. एल. 41
 जैन, एस. के. 121
 जैनी, जे., एल. 112, 129
 जैनी, पी. एस. 16, 23, 31, 48, 60, 71

जैन धर्म की वैज्ञानिक आधारशिला

जैनों की कण-भौतिकी 49, 50
 जैनों की मध्यम पंचपदी, 107
 जो. कीटन 53

टाटिया, एन. एम. 106, 112
 टेकियोन 123
 टोबायास, माइकेल 126

डार्विन 115
 डी. एन. ए. 122
 डी' स्पगनेट, बी., 114
 डेवीस, पी. सी. डब्लू 124

तत्त्वार्थसूत्र 140, 141, 142, 143
 तप/तपस्या 32, 88, 101, 110, 146
 तीन रत्न 104

तीर्थंकर 1, 29, 67, 69, 136, 138,
 कालखंड 67, 68, क्रियाशील/
 सक्रिय सर्वज्ञता के चरण 91
 चौबीसवें तीर्थंकर 2, जीवित
 तीर्थंकर 76, 80, तेईसवें तीर्थंकर
 2, पार्श्व 2, महावीर 2, 72, 79,
 151, 166, ऋषभ 1, 2, 9

तेजस्कायिक/अग्निकायिक 25, 28
 तैजसशरीर/उष्ण शरीर 47
 तैजस शरीर-संपुट 35, 40
 त्याग 102, 103, 110, - और धर्म 104,
 - ग्यारह प्रतिमायें, 102, -
 निगोद-जीवों का 80, महावीर का,
 152

थामसन, जे. जे. 116

दर्शन और दृष्टिकोण, 87
 दर्शन-आवरक घटक 33
 दर्शन मोहनीय 51, 86
 दर्शनावरण घटक/द-घटक 33, 39,
 53
 दशधर्म, 92, 104, 116
 दशवेयालिय 136, 139, 143
 दिवाकर, सिद्धसेन 140
 देव, 28, देव अवस्था, 28, 30
 देवर्षिगणि 136

देवेन्द्र सूरि 138
दृष्टिवाद 138
द्रव्य 37, 38
द्रव्यानुयोग, 140
द्वितीयक कार्मिक घटक 35, 36
द्वितीयक घटक 35
द्वितीयक जैन आगम 139
द्वेष समूह 54
धर्मद्रव्य 37, 38, 47
ध्वला 138
ध्यान 89, 95, 96, 97, 104, आर्त 96,
104, धर्म 104, नकारात्मक 109,
रौद्र 97, 104, शुक्ल 104
ध्रुवसेन 139
नथमल, मुनि 136, 163
नय 119, 120, सात नय 120, 121
नवतत्त्व 18, 22
नामकर्म 54, 60, — का प्रभाव 61
नारक अवस्था, 28, 30
नास्तिकवादी 20
निगोद/सूक्ष्म जीवाणु, 31
निर्जरा/निर्झरण 14, 19, 22, 101
निषेधात्मक घटक 33
निस्सरण/निर्झरण 101
नैगम नय 106
नो-कषाय, 59
न्याय वाक्य 110
न्यायावतार 140
न्यूक्लियस 116, 117
न्यूक्लियॉन 116
न्यूक्लीय अभिकारक 127
न्यूक्लीय बल, प्रबल/दुर्बल, 115
न्यूट्रॉन 116, 118
न्यूट्रिनो 123
पंचपदी 107
पंचास्तिकाय 142
पतंजलि 140
पदाथोर्जा/मैटर्जी 39
परमाणु 114, 116, कार्य 39, 139,
कारण 39, 139, चरम 39

परमेश्वी 31
परा—अनीश्वरवादी 20
परिग्रह 31, 57, 77, 147
परीषहजय 89, 94
पर्यावरण की समस्यायें 129
पर्यावरण निर्धारक घटक/व-घटक 34
पर्यावरण संरक्षण 129
पर्यूषण पर्व 138
पल्योपम 69
पशु/तिर्यच अवस्था, 30, 31
पशु के जीवन यूनिट 29
पाउली—अपवर्जन नियम 40
पॉपर, के. 112
पायोन 117
पावलोव 127
पुद्गल 18, 22, 43, 130, 144, —कर्म,
देखो कर्म—पुद्गल, — की
कोटियां, 40, — के गुण 48
पुनर्जन्म 44, 45, 46
पूज्यपाद 140
पेट्रोल और आत्मा की शुद्धि 21
पे—सियोनो 121
पैडलर, किट 46
पौधों के जीवन—यूनिट 26
पृथ्वी कायिक 25
प्याज के जीवन यूनिट 26
प्रकीर्णक 138
प्रथमानुयोग, 139
प्रदेश 23
प्रमाण 105, 106, अनिन्द्रियज, अनुमान,
इन्द्रियज, तर्क, परोक्ष, प्रत्यक्ष,
प्रत्यभिज्ञान, स्मृति — सभी 106 पर
प्रमाद 49, 50, 79, 87
प्रवचनसार, 140
प्राथमिक कण 114
प्रायश्चित्त 51
प्रोटॉन 1
फेनमैन के रेखाचित्र 119
फेरोमोन 122
फोटॉन 119
बंध 72

बल 39, 45, 140, अन्योन्यक्रियायें, 131,
अमूर्त, 12, चार बल 115, गतिक
39, चुम्बकीय, 23, प्राकृतिक 45,
महा, 131, मूलभूत, 131, स्थितिक
39
बल-क्षेत्र कवच 21
बाधित वीर्य, 14
बारह भावनायें, 93
बाशम, ए. एल. 43, 45, 124
बिंबसार, श्रेणिक 134
बेरियोन 120, 121
बोसॉन 120, 122

भगवती 138
भगवानदीन, महात्मा 91
भरुचा, एफ. 109
भारी कर्म-पुद्गल 22
भौतिक घटक 11

मगध 1
मतिज्ञान 105
मन 43, छठी इंद्रिय, 43, स्वस्तिक, 30
मनुष्य अवस्था, 28, 30
मनोगुप्ति, 92
मनःपर्यव ज्ञान 105, 106
मरडिया, के. वी. 64, 67, 100, 110,
112, 114
महलनोबिस 109, 127
महावीर 64, 70, 131, 144 - की मूर्ति
5, जीवनवृत्त 131, तीर्थंकर के रूप
में 133, वर्धमान 131
महाव्रत 91
माटीलाल, बी. के. 112
मान 54, 55, 56
मानसिक अवस्थायें देव, नारक, पशु,
मनुष्य 30
माया 53, 54
मांस-परिहार, 71
मिथ्यात्व/मिथ्यादर्शन 49, 50, 92-94
मीसॉन 117, 118, 135
मुक्त आत्मा 13, 23
मुक्ति 13, 18
मुखार, जे. के. 64

मूल गुण 34, 80
मूलसूत्र 138
मृत्यु 36
मेहता, बी. एल. 59
मैत्री 64
मोक्ष 22
मोटर-चालन की उपमा 73
मोटर का संचालन और आध्यात्मिक
विकास 102

यशोदा 131
यशोविजय 140
योग 50, 99, जैन 50 69, सकारात्मक,
नकारात्मक 50, 58
योगशास्त्र 143
योगसूत्र 140

रत्नत्रय 97, 104, 135
रदरफोर्ड 116
रस 42, - के पांच प्रकार 43
रागद्वेष 1
राग-समूह 54
रायचंद भाई 3
ऋजुसूत्र नय 106
रिषभदेव 1, 3,
रेडियोधर्मिता 155
रौद्र ध्यान, 97

लघु कर्म पुद्गल 1, 9
लेप्टॉन 117, 118
लेश्या 129
लोभ 56, 64
लोकाशाह 6, 10

वर्ण 42 के पांच प्रकार 43
वर्णकूट/लेश्या 129
वायुकायिक 25, 35
विकासवाद 115
विग्रह गमन/गति 51, 54
विद्यानंद 140
विद्युत् चुम्बकीय बल 119
विद्युत् चुम्बकीय तरंग 47
विपर्यस्त वीर्य 37

- वियोजन 53
 विल्सन 46
 विलोपन 86
 विशेषावश्यकभाष्य 142
 वीरसेन 138
 वीर्य-अवरोधक-घटक, 35
 वीर्यात्मक घटक 13, 16
 वेदनीय कर्म 47
 व्यवहारनय 106
 व्याप्ति/सह-धर्मिता, 120

 शब्द नय 106
 शरीर-निर्माणक घटक 39
 शलाकापुरुष 1
 शाकाहार 127
 शाह, ए. आर. 126
 शुद्ध आत्मा 12
 शुद्धि की कोटि 24
 शुद्धिकरण 11
 शुद्धिकरण के उपाय 89
 शुद्धिकरण के चरण 74
 शुद्धिकरण की धुरी 74
 शैल्लेक, आर. 123
 श्रमण 134
 श्रावक 90, 134
 श्रुतज्ञान 105, 113
 श्वेताम्बर 136, 137

 षट्खंडागम 138, 140

 सकारात्मक गुण 11
 सकारात्मक बल 33
 सकारात्मक योग 58
 सक्रियण का समय 53
 सजीव घटक 11
 सत्यसारिणी, 124
 सन्मत्तिसूत्र, 140
 सप्तभंगी 108
 समणसुत्तं 141
 समभिरूढ नय 106
 समयसार, 140
 समग्रता सिद्धान्त 109, 129, -हाथी
 और छह अंधे की उपमा, 111

 समिति 92, ईर्या 92, एषणा 92, वचन
 92, व्युत्सर्ग 92
 साक्स, जे. जी. 128
 सागरोपम 69
 सातावेदनीय कर्म घटक, 44
 साधु 80
 सापेक्ष कथन, 106
 सापेक्षवाद 108
 सांप-सीढ़ी का खेल 144
 सांसारिक आत्मा 11
 सिंघवी, एल. एम. 126
 सिद्ध 23
 सिद्धसेन दिवाकर 140
 सिद्धार्थ 131
 सुख 12, 13
 सुखात्मक घटक 13
 सुख-विकारी कर्म घटक/अ-घटक 46
 सुख-विकारी मोहनीय कर्म 59
 सुधर्मा स्वामी 136
 सूक्ष्म जीव/जीवाणु/निगोदिया 3, 25,
 63
 सूक्ष्म शरीर 54
 सूत्रकृतांग 138
 सेव के जीवन यूनिट 26
 सैद्धान्तिक विज्ञान 12
 सोमदेव 140
 संक्रमण 85, 86, अन्योन्य 95
 संग्रह नय 106
 संदूषित आत्मा 12
 संपुट, कार्मिक 40, 41, तैजस, 35, 36
 सम्प्रदाय 36
 सम्मोहन 46
 संयम 79, 86
 संवर 22
 सम्यक्-चारित्र 97, 104
 सम्यक्-दर्शन 3, 86, 109, - के आठ
 अंग 101, 117
 सम्यक्-ज्ञान 97
 सम्यक्त्व 77
 स्कंध की छह कोटियां 45, 116, 117
 स्टीवेंसन, एस. 54
 स्थानकवासी 137
 स्थिति 23

स्थितिज ऊर्जा 16
 स्थितिज बल 53
 स्थिति-पर्याय 38
 स्पर्श 42, - के चार गुण 43
 स्पर्श-गोचरता 139
 स्पर्शन इंद्रिय 25
 स्याद्वाद 108, 109, 113
 स्वतःसिद्ध अवधारणा 11, 12, 49, 63,
 - अवधारणा - 11, - अवधारणा
 - 24, - अवधारणा-3 32, -
 अवधारणा-4अ 49, -अवधारणा -
 4ब 61, - अवधारणा- 4स 72
 स्वस्तिक 30
 हाइड्रोजन परमाणु 117, 118
 हॉकिंग, स्टीफन 124, 141
 हाथी और छः अंघे 111

हाल्डेन, जे. बी. एस. 112
 हिंसा 63, 65, अनुमोदित 61,
 आरंभी/उद्योगी 65, कृत 61,
 कारित 61, पूर्वविचारित/संकल्पित
 65, 80, विरोधी 65
 हुंडावसर्पिणी 69
 हेमचंद्र, 140
 क्षपक श्रेणी 108

 त्रिशला 131

 ज्ञान 12, 13, 22
 ज्ञानबाजी 144
 ज्ञानात्मक घटक 13, 17
 ज्ञानावरण कर्म 51
 ज्ञानवरण घटक/स-घटक 33

यह पुस्तक एक आधुनिक विचारक और वैज्ञानिक द्वारा लिखी गई है जिसे वैज्ञानिक ज्ञान के संप्रसारण में शोधकला में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त है। जैन धर्म को अच्छी तरह समझने के लिये यह पुस्तक अनमोल मार्गदर्शक है। डा. मरडिया के अनुसार है कि जैन धर्म मानता है कि कोई भी व्यक्ति "जैन विज्ञान" की समग्र सत्यता को उस समय जान सकता है जब उसे केवलज्ञान या अनंत ज्ञान की क्षमता प्राप्त हो जाये। जैन विज्ञान के सत्य को प्रकट करने का उनका यह प्रयत्न बताता है कि उन्होंने जैन धर्म के साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है। यह पुस्तक सत्य को प्राप्त करने तथा अपने अस्तित्व व उद्देश्य को समझने में सहायक के रूप में, विकासशील जैन धर्म को समझने के लिये, जैन एवं जैनेतर पाठकों के लिये महत्वपूर्ण मार्गदर्शिका हैं।

"द जैन", अप्रैल 1992

प्रो. सी. आर. राव, एफ.आर.एस,
पैन स्टेट यूनिवर्सिटी, अमेरिका

इस पुस्तक का लेखक सैद्धान्तिक भौतिकी तथा जैन दर्शन—दोनों ही क्षेत्रों का प्रकांड विद्वान् हैं। यह पुस्तक सरल तथा सुबोध रूप में पठनीय है। उन्होंने आज की भाषा में एक नई शब्दावली और अवधारणाओं का समुच्चय दिया है जो विज्ञान पूर्व समय की दुरुह शब्दावली में प्रच्छन्न थी। यह विश्वासपूर्वक आशा की जाती है कि लेखक द्वारा प्रस्तुत पथ भविष्य में अनेक विद्वानों द्वारा अनुसरित किया जायगा। यह पुस्तक जैन धर्म के लिये एक नए ज्ञान के लिये जैन या जैनेतर जिज्ञासु की पुस्तकों की आलमारी में होना चाहिये।

"द जैन", मार्च 1991

पॉल मारेट, लेस्टर, यू.के.

इस पुस्तक के प्रारंभिक पृष्ठों में दो बातें हैं: (1) "आइंस्टीन के ये शब्द कि धर्म—विरहित विज्ञान पंगु है और विज्ञान—विरहित धर्म अंधा है।" तथा (2) जैन= वह व्यक्ति जिसने स्वयं को जीत लिया है। हमारी सम्पूर्ण कृति पर इन दो मुख—छवियों का अक्स है। इतने कम पृष्ठों में विद्वान् लेखक ने जैन धर्म और दर्शन के लगभग सम्पूर्ण अस्मिता को सफलतापूर्वक परोस दिया है। उन्होंने न्यूनतम शब्दों में अधिकतम सामग्री देने का प्रयास किया है। वस्तुतः एक ऐसी पुस्तक की तुरंत आवश्यकता थी, जो विज्ञान की आधारभूमियों पर खड़ी हो और जैन धर्म को उसकी समग्रता में संप्रेषित करती हो। इस कृति ने इस सांस्कृतिक पिपासा को दूर करते हुए जैन धर्म/दर्शन के क्षेत्र को उपकृत किया है। "जैन दर्शन और विचार कालातीत है" का कथन विद्वान् लेखक द्वारा पग—पग पर प्रमाणित हुआ है। लेखक की दो विशेषतायें हैं: संतुलन और स्पष्टता। आधुनिक विज्ञान की वर्णमाला में जैन सिद्धान्तों को व्याख्यायित कर लेखक ने अपनी समवर्तिनी पीढ़ी को उपकृत किया है। नई पीढ़ी जैन धर्म की प्रासंगिकता एवं सार्थकता को हृदयंगम करना चाहती है।

नेमीचंद जैन, संपादक, 'तीर्थकर', इंदौर